ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—७४

दीप जले, शंख बजे

लघुताके अणुमें महानताके विराटका प्रदर्शन करनेवाले
प्रकाश और जागरणसे पूर्ण पच्चीस संस्मरण

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
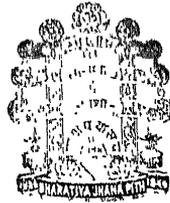
भारतीय ज्ञानपीठ, • काशी

आदरणीय श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्माके नाम

बाबूजी,

आपने अपने जीवनके सर्वोत्तमसे विकास संस्थाकी स्थापनाकर प्यार और आग्रहसे मुझे ला बैठाया, तो दीप जलाने और शंख बजानेका काम ही तो सौंपा ! आपके आशीषकी जय

कि वही काम मेरे जीवनका आस्थायज्ञ हो गया। उसी यज्ञके कुछ दीप और शंख हैं ये;

लीजिये, इन्हें स्वीकार कीजिये।

आपका ही तो—

क० ला० 'प्रभाकर'

किस पृष्ठ पर ?

ये दीप, ये शंख

वृक्षकी तरह मैं धरती पर जन्मा और धरतीके कलेजेका रस पीकर आकाशमें झूम उठा। आकाशमें ही मैं फूला-फला, पर इन फूलोंमें धरती के हृदयका सौन्दर्य था और फलोंमें धरतीके ही हृदयका माधुर्य। इसलिए जब इन फलोंका अर्घ्य और फलोंका उपहार किसीको भेंट करनेका प्रश्न मेरे सामने आया, तो मैं पलभरको भी दुविधामें नहीं पड़ा और मैंने उन्हें धरती माताके चरणोंमें मान और प्यारके साथ समर्पित कर दिया।

मैं जिस परिवारमें जन्मा, उसे किसी भी दृष्टिसे साधारण कहा जा सकता है। माँका मुझपर कुछ अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। वह मेरे लिए मोम थी, पर और सबके लिए इस्पात। मेरे नन्हें-से मनको जिस चरित्रने सबसे पहले प्रभावित किया, वह मेरे शान्त, प्रेमी और सहिष्णु पिताका चरित्र था।

वे कस्बेके साधारण कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। शिक्षा साधारण, धन-साधन लगभग शून्यताके समीप और सामाजिक स्थिति भी साधारण, पर उनके जीवनमें मानवीय महानताकी ऐसी असाधारण शक्ति थी कि उसे मेरा बचपन भी देख पाया। कुटुम्ब-पड़ौसमें ऐश्वर्य पदसे समाजमें ऊँचे आसन पर बैठे, कई असाधारण भी मेरे सामने थे, पर उनके जीवनमें पाशविक हीनताकी ऐसी कालिमा थी कि उसे मेरा बचपन भी देख पाया। बस साधारणमें असाधारणता देखनेकी भावनाका मुझमें यहींसे प्रस्फुटन हुआ।

आगे चलकर जब मैं बहुत-से बड़े आदमियोंके निकट सम्पर्कमें आया और मैंने उनमेंसे अधिकांशको मनुष्यताकी दृष्टिसे एकदम खोखला—इन्सॉलवेंट—पाया, तो साधारणमें असाधारणता देखने-खोजनेकी यही भावना मेरे पूरे जीवन पर छा गयी; और क्योंकि मेरे लिए साहित्य-जीवनका अङ्ग था, शौक व्यापार नहीं, जीवनका धर्म था—एक नये शब्दमें जीवनका संविधान था, इसलिए आकाशकी कल्पनामें न उलझ कर जीवनमें ही सत्य-सौन्दर्यकी खोज मेरे साहित्यकी आत्मा बन बैठी।

इसी आत्माकी आरतीके ये हैं कुछ दीप, ये हैं कुछ शंख। दीप तो जलता है अन्धेरेमें कि हम देख सकें, पर क्या देख सकें? कहाँ निशाका दिग्दिगन्तव्यापी अन्धकार और कहाँ दीपका दो-चार गजपर ही टूट जाने-वाला प्रकाश? हम क्या देख सकें; बस यही कि अन्धकार महान् है और प्रकाश तुच्छ? ना, हम देख सकें यह कि अन्धकार लाख डींग मारे कि उसने प्रकाशको समाप्त कर दिया, पर प्रकाश अब भी जीवित है, अमर है—दूसरे शब्दोंमें दीप शीघ्र ही सूर्योदयका एक विश्वसनीय आश्वासन है। लघु होकर भी दीपकी विशिष्टता और माङ्गलिकता यही है।

और शंख, जो बजता है आरती-पूजासे पहले कि हम सुन सकें, पर क्या सुन सकें? कहाँ रणभेरियोंकी गर्जना कि खून-खच्चरके चीत्कारमें कान पड़ी बात कलेजे न उतरे और ढोलोंकी ढमाढम कि जूझनेकी धुनसे रोम-रोममें उमड़ उठे और कहाँ बेचारे शंखकी ऊँ—ऊँ? तो बस हम सुन लें कि जीवनमें युद्ध-संघर्ष महत्त्वपूर्ण है और पूजन-अर्चना क्षुद्र? ना, हम सुन लें यह कि युद्धका राक्षस लाख गरजे, मानवकी नीरव निशीथव्यापी निद्राको लाख बार जागरणका अन्त घोषित करे, मानव-जीवनकी अजेय वृत्ति गुलामी नहीं, पूजन-अर्चना है—गुणोंके प्रति, चरित्रके प्रति, व्यक्तित्वके प्रति वन्दना है। लघु होकर भी शंखकी विशेषता और मांगलिकता यही है।

अगले पृष्ठोंमें ऐसे ही मानवोंके संस्मरण हैं, जो साधन या शक्तिके कारण नहीं, साधना और भक्तिके कारण ही दीप्तिमान् हैं; यहीं मैंने उन्हें कहा है दीप, जो प्रकाश फैलाते हैं और शंख, जो जागरणका सन्देश देते हैं।

प्रकाश; चाँदनी-रोशनी-लाइट बल्बसे हो या लैम्प-दीपसे सदा राह दिखाता है, पर ये तो जीवनके दीप हैं, इनके प्रकाशमें हम कौन-सी राह देखें? सड़क-सोपानकी राह? ना, जीवनकी राह!

जीवनकी राह कि जिसपर चला जीवन भटके नहीं, पर जीवनका भटकना क्या? जीवनका भटकना है गलत चीज़ों—वैल्यूज़—में अपनी

सार्थकता मानना, तो हम इस प्रकाशमें देखें कि जीवनकी सार्थकता उसके गुणवान् होनेमें, नम्र-सेवाशील होनेमें, दूसरोंके लिए उपयोगी होनेमें है, संहारक या साधन-सम्पन्न होनेमें नहीं—यह साधन सम्पन्नता धनकी हो, बलकी हो, पदकी हो, या बुद्धिकी हो !

और जागरण; जागना-जाग्रति-चैतन्य, जो मनुष्यको चिन्तन—सोच-विचार-देता है; पर इन शंखोंके जागरणमें हम क्या सोचें ? क्या नून-तेल-लकड़ी की बात ? ना, वह चिन्तन नहीं चिन्ता है। जागरण है स्वप्नका उल्टा। स्वप्नमें हम मिथ्याको यथार्थ, अशुभको शुभ और अकार्यको कार्य भी मानें, तो सुख मिलता है, पर जागरणमें अयथार्थ अयथार्थ है और यथार्थ यथार्थ, तो हम सोचें-जानें-मानें कि मनुष्यकी उच्चता यह नहीं है कि वह अपने लिए जिये, दूसरोंको अपने लिए समझे या दूसरोंको अपने लिए जीने-मरनेको कर सके। उसकी उच्चता है यह कि वह दूसरोंके लिए जिये, दूसरोंके लिए उपयोगी होकर जिये।

और भी साफ यों कि वह मनुष्य सम्माननीय नहीं है, जो अपने लिए कुछ या सब कुछ उपार्जित करता है। वास्तवमें सम्माननीय है वह, जो दूसरोंके लिए कुछ या सब कुछ समर्पित करता है; फिर वह मजदूर हो या इंजीनियर, छात्र हो या प्राध्यापक, धनपति हो या गरीब, अधिकारी हो या जनसाधारण, शिक्षित हो या अशिक्षित और आजकी भाषामें प्रतिष्ठित हो या अप्रतिष्ठित !

इस प्रकाशमें मैंने अपने जीवनकी राह पाई और इस जागरणमें अपने जीवनका यथार्थ। चाहता हूँ दूसरे भी इन दीपोंके प्रकाशमें अपने जीवनकी राह पायें, इन शंखोंके जागरणमें अपने जीवनका यथार्थ; इसीलिए इन्हें चावके साथ साहित्यके मन्दिरमें रख रहा हूँ।

विकास लिमिटेड
सहारनपुर, उत्तरप्रदेश

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

मेरे पिताजी

अपनी तीन वर्षकी होशको ज़रा सँभालकर उन्होंने अपने आस-पास झाँका, तो वे सहम गये। माँ-बाप मर चुके थे और उनका पालन-पोषण उनके चाचा-चाचीकी देख-रेखमें हो रहा था। उनके बचपनके संस्मरणोंका सार है, बच्चे खिलाना, मार खाना, कुछ न कहना और सब कुछ सहना। यह कितना अद्भुत है कि इसी दमघोटू वातावरणमें उन्होंने अपने स्नेही बाबासे ग्यारहवें वर्षमें पैर रखते-न-रखते कर्म-काण्डकी कामचलाऊ शिक्षा पा ली और इससे भी अद्भुत है यह कि इस नरक-कुण्डमें पलकर जो बालक निकला, उसके रोम-रोममें व्याप्त मिला मानवका प्रेम, सभी तरहके भेद-भावोंसे ऊपर जीवनके कण-कणमें छाई ममता और ईश्वर-विश्वास। ओह, ऐसा कि सन्तोंको भी ईर्ष्या हो! यह थे मेरे स्वर्गीय पिताजी—श्री पण्डित रमादत्त मिश्र।

प्लेगमें बड़े भाईकी मृत्यु हुई, तो शहर रो पड़ा, पर वे चार बजे श्मशानसे लौटे, पाँच बजे गायकी सानी की, सात बजे उसे दुहा, ७॥ बजे ठाकुरजी की आरती की और नौ बजे गरम दूधके दो गिलास लेकर माँके पास पहुँचे—'ले दूध पीले और बहूको भी पिलादे!'

वे दूध-मिसरी तो माँ लाल मिर्च। चिल्लाकर बोली—'मेरा तो घर जल गया और तुम्हें दूध-मलाई सूझ रही है!'

स्वरमें कहीं उद्वेग नहीं। बोले—'बिना खाये कौन जिया है बावली! मैं आज कह रहा हूँ, तू परसों खायेगी। बस तीन दिनका आगा-पीछा है।' अपने कमरेमें लौट आये और दूध पीकर सो गये। रात भर उनका गुर्राटा सबने सुना और ठीक साढ़े चार बजे उनकी मधुर, तल्लीन

स्वर-लहरी सदाकी भाँति कानोंमें पड़ी—'पवन मन्द सुगन्ध शीतल, हेम मन्दिर शोभितम् ; श्री निकट गंगा बहत निर्मल, बद्रीनाथ विश्वम्भरम् !'

*　　*　　*　　*

छोटे भाईको एक सम्बन्धीने बहकाकर नहरमें डुबा दिया। वे सब कुछ जानते थे, पर पुलिससे कहा—'नहाने घुसा, पैर रपट गया, मेरा भाग्य दारोगाजी, शक किसपर करूँ ?'

माँ बहुत झल्लायी—'उस सण्डेको फाँसी चढ़ता देखकर मेरी छातीमें ठण्डक पड़ जाती, तुम्हें यह भी अच्छा न लगा।'

वही शान्त स्वर—'अब आग एक घरमें है, फिर दो में लग जाती; इससे क्या फायदा ?'

*　　*　　*　　*

एक कोठा उन्होंने खरीद लिया। खरीद क्या लिया, मालिकने उन्हें थोड़े-से रुपयोंमें दे दिया। कुटुम्बके दूसरे धनी सदस्य उसे अधिक रुपयोंमें भी खरीदना चाहते थे, पर उन्हें वह न मिला।

पिताजी भोजनके लिए आसनपर बैठे कि अपने आदमियोंके साथ, लाठियाँ लिये वे आ धमके और मारनेकी धमकियोंके साथ, गालियोंका एक दौंगड़ा-सा बरसा दिया उन्होंने।

वही उद्वेगहीन स्वर—'आओ भाई, पहले भोजन करलो फिर मार लेना।'

गालियोंकी एक और बौछार उनपर पड़ी, तो बोले—'तुम बहुत हो, मैं इकला हूँ। भागा मैं कहीं जा नहीं रहा। आओ पहले खाना खालें !' जवाबमें कुछ हुंकारें, कुछ फुंकारें और गालियोंकी कुछ तगड़ी बौछारें उनपर पड़ीं। अब उन्होंने गलेसे माला निकाल ली, आँखें बन्द; नमः शिवाय, नमः शिवाय !

दस-पाँच मिनट बक-झक कर वे चले गये। माँ बोली—'वे बकते रहे, तुमने उन्हें जवाब तक नहीं दिया। मैं तुम्हारा लिहाज़ कर गई, नहीं तो सिण्डासीसे गला पकड़कर जलती लकड़ीसे धुनती नाशगयोंको!'

वाकई वह ऐसी थी। पिताजीने माला गलेमें डाली। बोले—'मैं बोलता, वे और खड़े रहते। खानेका स्वाद आधा तो गया ही, वह बिल्कुल ही ठण्डा हो जाता। ला परोस जल्दी!'

* * * *

बहनका विवाह सिरपर था और पासमें पैसा नहीं। सगाईके दिन ही ६) उधार मँगाकर काम चलाया। सबने कहा—जब पास पैसा नहीं, तो ठहर जाओ–अगले साल शादी हो जायेगी।

बोले—'अगले साल और इस सालका फर्क तो वे जानें, जिनके घर कहींसे धन आनेकी सम्भावना हो। मेरी लड़कीकी शादी तो इस साल भी ठाकुरजी करेंगे और अगले साल भी। उनके भण्डारेमें सब कुछ है, तुम फिकर मत करो!'

उसी दिन शामको अचानक उन्होंने माँसे बड़ी थैली माँगी। वह समझी, कहींसे रुपये ले आये हैं। चुपकेसे तीन रुपये रखकर थैली माँको लौटा दी। वह जल उठी—'इन्हीं तीन रुपल्लियों पर शादी करोगे लड़की की?'

बोले—'बावली, तेरी लड़कीका कारज हो जायेगा और ये तीन रुपये बचे रह जायेंगे। तू नहीं जानती, ठाकुरजीकी भुजा बड़ी लम्बी है।'

समय जा रहा है, घड़ी आरही है, पर ठाकुरजीकी लम्बी भुजाका कोई प्रमाण मिल नहीं रहा। माँके प्राण सूख रहे हैं, पर पिताजीके चेहरेपर वही हँसी, वही चार बार रोज चाय, वही आरती और वही नींद! माँ जब-जब उन्हें कोंचती है, कह देते हैं—'मैंने अपना काम कर दिया, ठाकुरजी अपना काम करेंगे।' ठाकुरजीने अपना काम नहीं

किया और विवाहके १६ दिन रह गये। माँका चेहरा पीला पड़ गया। अचानक तार आया—पिताजीके एक यजमान शिव पुराणकी कथा सुनने को उन्हें बुला रहे हैं। यजमान डिप्टी कलक्टर थे। कथापर पन्द्रह सौ रुपये चढ़े। पिताजी दस दिन बाद घर लौटे, माँ भक रह गई।

धूमधामसे शादी की। लड़की अपनी सुसरालसे लौटी, तो अन्नपूर्णाका भोज भी हुआ। शामको पिताजीने फिर थैली देखी। समयकी बात उसमें ६) रुपये थे। ६) का ऋण उतार दिया; आगे बचे तीन! माँसे बोले—'तेरी लड़कीके सब काम हो गये कि नहीं? फिर भी बचे रहे वे ही तीन! तुम लोग भट विश्वास छोड़ बैठते हो। मैं कहता न था कि ठाकुरजीकी भुजा बड़ी लम्बी है।'

* * * *

वे पण्डित भी थे और चिकित्सक भी। एक दिन सात रुपये उनके पास आये और सातों उन्होंने खर्च कर दिये। माँ बहुत नाराज़ हुई कि 'कल त्योहार है, सबेरे-ही-सबेरे पूजाके लिये एक रुपया चाहिये, कहाँसे आयेगा?' वही पेटेंट जवाब—'सब ठाकुरजी देंगे!' जवाबसे माँको सन्तोष न हुआ—'देखूँगी, दिन निकलते ही ठाकुरजी कैसे देते हैं?'

बात यह थी कि पिताजी सबेरे बहुत जल्दी भोजन करके घरसे निकलते थे, पर कल भोजन हो सकता था पूजाके बाद और पूजाकी कुंजी थी एक रुपया। पिताजी भी यह जानते थे, पर बोले—'खैर देख लेना, ठाकुरजीकी भुजा बड़ी लम्बी है।'

तड़कमें चार बजे एक रोगीका बुलावा आया और दो रुपये लेकर वे लौटे। आते ही बोले—'यह लो एक रुपया पूजाका और एक ऊपरके खर्चका। यों ही हाय-हाय मचा देते हो तुम लोग!'

अपने ठाकुरजीमें उनका अखण्ड विश्वास था और वाकई उनकी

भुजा बड़ी लम्बी थी। मैंने उन्हें कभी भयसे विह्वल, निराशासे अस्तव्यस्त और क्रोधसे क्षुब्ध नहीं देखा!

* * * *

मानवके प्रति निष्काम ममता उनकी अपनी चीज़ थी। जो घासवाला उनकी गायके लिए घास लाता, उसे चाय पिलायी जाती और यजमानोंके यहाँसे आई-गई सुहाली-मिठाई अवश्य दी जाती। अगर वह बूढ़ा होता, तो उसे ज़रा-सी अफीमकी गोली भी वे दे देते। यह सब उन्हें अपनी शीतल पाटी पर बैठाकर किया जाता और इसके लिए वे अपना ही गिलास काममें लाते। इसके बाद न बर्तनमें आग डाली जाती, न घरमें गंगा जल छिड़का जाता। शहरके पण्डित कहा करते—'रामा मिस्सर का तो भभेक भिरस्ट हो गया है!'

एक बूढ़े घासवालेने कहा—'पण्डितजी, हमें एक रजाई दे दो।' तब भादवेकी भयंकर गरमी पड़ रही थी। आश्चर्यसे वे बोले—'अरे, आजकल रजाई क्या करेगा?' बात यह थी कि बूढ़ेने पिछली सरदियाँ मुश्किलसे काटीं थीं, अगली सर्दियोंके लिये वह अभीसे चिन्तित था। पिताजीने सर्दियोंमें उसे एक रजाई देनेका आश्वासन दे, विदा किया।

दीवाली पर जब उन्होंने अपने लिए रजाई निकाली, तो उस बूढ़ेके लिए भी एक रजाई ठीक कराकर रखदी; पर वह बूढ़ा न आया। मैंने देखा कि वे बेचैन थे और बार-बार सबसे उस बूढ़ेको पूछते थे! हमें उनकी बेचैनी पर हँसी आती थी और कभी-कभी झुंझलाहट भी—'उसे सौ बार गरज होगी तो आयेगा, नहीं तो आप क्यों परेशान हैं!' वे कहते—'अरे भाई, वह बेचारा मालूम होता है, घर भूल गया है। नहीं तो वह ज़रूर आता!'

एक दिन वे घासमण्डी जा पहुँचे और दो घण्टे तक वहाँ खड़े रहे, पर वह बूढ़ा उन्हें न मिला। तब दूसरे घासवालोंसे उन्होंने उनके गाँव पूछे।

अन्तमें उस बूढ़ेके गाँवका एक दूसरा घासवाला उन्हें मिल गया। उसके हाथ उन्होंने बूढ़ेको खबर भिजवायी। खबर ले जानेके लिए भी उसे दो आने दिये। दूसरे दिन बुखारमें हिलहिलाता वह बूढ़ा आया। सचमुच वह घर भूल गया था। पिताजीने उसे अपने हाथों रजाई उढ़ाई, चाय पिलाई और दवा दी। शामको जब मैं बाहरसे आया, तो बहुत खुश होकर बोले—'ले भाई, आज हमारा वो काम हो गया।'

'क्या काम जी?'

'वो बूढ़ा आया था, रजाई ले गया।' वे ऐसे खुश थे कि जैसे आज उनका खोया हुआ लड़का पा गया हो!

* * * *

एक दिन एक तरुण घासवाला आया। वह भी एक रजाई चाहता था, पर रजाई घरमें थी नहीं। उसकी कहानी इस प्रकार थी—घरमें वह और उसकी माँ है। पिछले साल उनके पास एक रजाईका रूअड़ था, उसे माँ-बेटे ओढ़ लिया करते थे। वह टूट गया है। ठण्ड खाकर माँ बीमार हो गई है। बेहद तेज बुखार है। उसे इकलो छोड़कर मजबूरीमें वह घास वेचने आया है।

वे चिन्तामें पड़ गये, पर कहीं गुंजायश न थी। सोच कर बोले—'अच्छा भाई, तू शामको आना। हमारे पास तो कोई कपड़ा है नहीं, पर देखो, ठाकुरजीकी भुजा बड़ी लम्बी है।' वह चला गया। तीसरे पहर तक कोई प्रबन्ध नहीं हुआ। अचानक कुछ सूझा। उठकर कहीं गये और लौटे, तो एक पुरानी रजाई उनकी बगलमें थी—किसीसे माँगकर लाये थे! मेरे आत्माभिमानको बड़ी ठेस लगी। मैं नाराज़ हुआ, तो लाड़में बोले—'बेटा! उनके यहाँ यह फालतू पड़ी थी, इसके काम आजायेगी; इसमें बेइज्जतीकीबात क्या है?' मुझे नरम करते हुए बोले—'बस एक माँ है इसके। वह शीतमें मर जाती, तो इसकी दुनिया अन्धी

हो जाती।' और यह कह कर जैसे किला जीत लिया उन्होंने—'अब दोनों आरामसे पैर पसारकर सोयेंगे।' रजाईके साथ माँके लिए दवाई भी उसे मिली और पीनेको चायका गिलास भी।

* * * *

घरके सब लोग प्लेगमें मर गये। बच गया सिर्फ जीजू! दस बारह सालका मुसलमान बालक। हमारे धोबीके साथ वह पिताजीसे आ मिला और बस उनका पुत्र हो गया। उनके पास खाता, कपड़े पहनता और रातमें घर जा सोता। भोला-सा सरल बालक; एक दिन पिताजीकी तरह सूरजको हाथ जोड़ रहा था कि मुसलमानोंमें हल्ला मच गया। तार देकर उसका बहनोई बुलाया गया। मुश्किलसे पिताजीने उसे बहनके यहाँ जानेके लिए तैयार किया। नये कपड़े पहनाकर उसे स्टेशन छोड़ने गये। जबतक गाड़ी दीखती रही, खड़े देखते रहे और इसके बाद भी मनिआर्डर-से उसे कभी-कभी रुपये भेजना जारी रहा।

* * * *

बरफ वाला गलीमें आता, तो पास-पड़ोसके बच्चे उन्हें आ घेरते! एक दिन चौदह बच्चोंको उन्होंने बरफ दिलाया और बरफ वालेको पैसे देनेके बाद एक पैसा ऊपरकी ताकमें रख दिया। मैं भी वहीं उनके पास खड़ा था। पूछा—यह पैसा वहाँ क्यों रख दिया आपने?

बात टालनेको बोले—'यों ही रख दिया है, फिर उठा लूँगा? पर मुझे सन्तोष न हुआ, तो खुले—'यह पैसा भंगनकी लड़कीका है। जब आयेगी, उठाकर दे दूँगा, बरफ खालेगी। आखिर उसमें भी तो जान है बेटा!'

* * * *

उनके लिये अपने बच्चे, पास-पड़ोसके बच्चे और भंगनके बच्चेमें कोई भेद न था। बच्चे असलमें उनकी जान थे। जब वे खाना खाते, तो इधर-

उधरसे कई बच्चे आ जुटते। उनका भोजन एक हंगामा ही होता। एक कहता मैं दालसे लूँगा, दूसरा आलूसे। तीसरेका नाक पूँछते, चौथेको पानी देते। एक इस बात पर ऐंठता कि मैं गोदीमें बैठूँगा, दूसरा रूठ जाता कि उसे गोदमें क्यों लिया? सबको सँभालते और इस सँभालमें पूरा रस लेते। उनका भोजन सचमुच एक दृश्य होता!

उनकी चाय-गोष्ठी भी इसी तरह काफी दिलचस्प होती। एक और गोष्ठीके भी वे संयोजक होते। वह सिर्फ सर्दियोंमें जमती। वे बीचमें जमीनपर, अपने आसन पर उकड़ूँ बैठते और दोनों तरफ पलंगों पर बैठते बाल-गोपाल। वे गन्ना छीलते और पोरी बच्चोंको देते रहते। पहले-पीछेका हंगामा यहाँ भी मच जाता, पर वे उसे सँभालते और गन्ना-गोष्ठी जारी रहती।

इस गोष्ठीमें उस समय मजा आ जाता, जब अचानक हममें से कोई तरुण आ पहुँचता। वे एक पोरी उसकी ओर भी बढ़ाते। इधरसे हाथ बढ़ानेमें जरा भी ढील हुई कि वे कहते—'ओहो, अब तो आप बहुत ही बड़े हो गये हैं।' और तभी वे अपनेको तीन अक्षरोंमें उण्डेल-सा देते—'ले बेटे!' और पोरी हमें चूसनी पड़ती—हँसते-हँसते!

* * * *

वे थके-थकाये, पसीनेसे तर बाहरसे लौटते—फल, सब्जी, मिठाई और जाने क्या-क्या लिए। बच्चे दौड़ पड़ते—'बाबा आये, बाबा आये।' कोई खरबूजा माँगता, कोई मिठाई, कोई कमर पर चढ़ता, कोई पैरोंको लिपट जाता। वे परेशान हो जाते, पर कभी न चिल्लाते। लाड़में ही कहते—'अरे, ताला तो खोल लेने दिया करो। आते ही दुन्द मचा देते हो। जो कुछ है तुम्हारे ही लिये तो है।'

एक दिन बच्चोंका यह आक्रमण आरम्भ हुआ ही था कि मैं आ गया। मैंने उन्हें डांटा, तो मुझपर ही एक डांट पड़ी—'अरे तुझे

तो ये कुछ नहीं कहते। तू क्यों हर वक्त इनके पीछे पड़ा रहता है!' और जल्दी-जल्दी ताला खोलकर सबको कमरेमें ले घुसे और मिठाई, फल बाँटने लगे।

* * * *

अजीब-अजीब सवाल बच्चे उनसे पूछते और वे इस ढंग पर उनका जवाब देते कि बच्चोंको आनन्द भी मिलता और ज्ञान भी। एक दिन छोटी-सी गायत्रीने पूछा—'बाबा, तुम्हारे बाल सफेद क्यों हैं?'

बोले—'बेटी, जब मैं छोटा था, अपना सिर नहीं धुलाया करता था। मैल भर जानेसे बाल सफेद हो गये हैं।'

उत्तरकी प्रतिक्रिया कितनी स्पष्ट थी—'बाबा, मैं तो रोज अम्मासे अपना सिर धुला लेती हूँ।'

प्रतिक्रिया पर कितनी बढ़िया पालिश उन्होंनेकी—'तभी तो तेरे बाल काले हैं बेटी!'

* * * *

'पिताजी, आप बुढ़ापेमें भी इतने स्वस्थ हैं, इसका रहस्य क्या है?' एक दिन मैंने पूछा, तो बोले—'तीन मुख्य कारण हैं इसके।'

१—मैं सदा नियमित रूपसे ब्रह्म-वेलामें जागता हूँ और नहाने, खाने, घूमने आदिमें भी नियमित रहता हूँ।

२—मैं सदा आदमी रहता हूँ, भगवान् कभी नहीं बनता। तुम्हें १००) मिल गये, तो खुश और खो गये, तो गुम। मैं मानता हूँ, सब काम ठाकुर जी की इच्छासे हो रहा है। आया भी उनका, गया भी उनका। सुख भी उनका, दुख भी उनका।

३—मैं हमेशा बच्चोंमें खेलता हूँ। ये मुझे नया जीवन और फुर्ती देते हैं। हँसकर बोले—मेरे बाल-मित्रोंमें और बुढ़ापेमें युद्ध हो रहा है।

वह मुझे जितना थकाता है, ये उतनी ही शक्ति मुझे दे देते हैं। किसी दिन तो बुढ़ापा जीतेगा ही, पर खैर, अभी तो बेचारा पिट रहा है !

* * * *

एक बार मुझे पतंगबाजीकी धुन सवार हुई। उन्हें पता चला कि मैं दूसरे मुहल्लेमें जाकर पतंग उड़ाता हूँ। बस दूसरे ही दिन बाजारसे आप कई बढ़िया पतंगें, हुचका और माँझा ले आये और ज्योंही शामको लौटा कि वे सब चीज़ें मुझे दीं।

बोले—'भाई, आजकल शामको जी नहीं लगता, इसलिए यह लाया हूँ। तू छत पर शामको पतंग उड़ाया कर, मैं भी देखा करूँगा।' भाई साहब बहुत नाराज़ हुए—'और तो सब कुछ पढ़ा दिया। अब यह नयी शिक्षा आप इन्हें देंगे !'

उनके उत्तरमें उनकी स्पष्टता थी। बोले—'पतंग तो लड़के उड़ायेंगे ही। तुम उन्हें डाटोगे, तो वे चोरीसे बुरे लड़कोंके साथ उड़ायेंगे और पैसोंके लिए घरकी चीजें बेचना सीखेंगे !'

दूसरे दिन शामको अपनी ही छत पर हमारी पतंग उड़ी। अपना हुक्का लेकर वे भी वहीं आ बैठे। पतंग सीधी हुई कि वे बोले—'दे ढील। अरे ढील दे भाई, हुचका सीधा छोड़ दे।' ढील ज्यादा दे दी और पतंग पेटा खा गई, तो तुरन्त हिदायत मिली—'सँभाल पेटा, अरे पेटा सँभाल। मार लम्बी खींच !' कोई पतंग बराबरीमें आई और वे बोले—''दे गोत। यों नहीं, यों नहीं, तिरछा। दे बायाँ गोत, दे बायाँ !' हमने गोत दिया और पेंच लड़ गये। पेंच लड़े कि वे बोले—'दे ढील, अरे अब क्या है, दे ढील—छोड़ दे नाँव खुदाके हाथ !' ढील चल दी, पर पतंग कमजोर थी। तुरन्त बोले—'मार ठुमकी। हल्की, एकदम हल्की, नहीं तो भर्र हो जायेगी पतंग। देखता नहीं, हवा सो रही है।' पतंग जरा उठी, इठलाई और सरकी कि वे बोले—'अब दे ढील। हुचका ऊँचा करले।

ऊँचा करले हुचका !' अब उन्होंने पतंगकी ओर देखा। बोले—'घस्सा ठीक बैठ रहा है—कैंची खूब चल रही है !' तभी दूसरी पतंग कट गई। हम अपने पहले मोर्चे पर कामयाब रहे। वे बोले—'कटती कैसे नहीं, अण्डेकी सूँतका माँझा लाया था मैं !'

मुझे आश्चर्य हुआ कि वे पूरे पतंगशास्त्री हैं। पूछा—'आपने भी कभी पतंग उड़ाई है पिताजी ?' बोले—'हाँ बेटा, अपने समयपर सभी उड़ाते हैं ? खेल-भटक कर ही आदमी बड़ा होता है।'

* * * *

वे सूझके धनी थे। इस सूझकी तीन धारायें थीं। पहली यह कि आप उनसे कहीं मजाक करें, अपनी वाक्चातुरीसे उन्हें मात देना चाहें, वे अपनी सूझसे फौरन आपको छका देंगे।

एक धनी यजमानकी लड़कीका विवाह था। लग्न था नौ बजे का, पर बड़े आदमियोंके बड़े प्रबन्ध; संस्कार आरम्भ हुआ रातमें एक बजे। वर-पक्षके तरुण पण्डितने पूछा—'पण्डितजी किस लग्नमें कार्यारम्भ हो रहा है यह ?' वे उसके शास्त्रार्थी निशानेको ताड़ गये। बोले—भैया, यह 'फ़ुरसत-लग्न' है। दोनों पक्षोंको जब प्रबन्ध आदिसे फ़ुरसत मिल जाती है, यह आरम्भ होता है।' पण्डितजी झेंपे और लोग हँसे ! मुझसे बोले—'पहली ही टंकोर में चित होगया बेटा।'

दूसरी धारा थी चिकित्सा में। आयुर्वेदके वे कोई विशेष पण्डित न थे, पर कभी-कभी ऐसा निशाना लेते थे कि डिग्रियाँ और चोगे बगलें झाँकते रह जाते थे।

एक धनी सज्जनका बहलवान गाँवसे गेहूँ भर कर लाया। गाड़ी हाँके चला आ रहा था कि उसकी जबाड़ी बन्द हो गई। न कहीं दर्द, न बेहोशी, पर मुँह बन्द। डाक्टर आये। कानी आँखोंपर थरमामीटर थिरके, स्टेथिसकोपोंने दिलकी खबर ली; नो टैम्परेचर, नो हार्टट्रबल ! जम्बूड़से

मुँह फाड़कर अन्दाजन कुछ दवाएँ उसमें डाली गईं, पर कुछ न हुआ।

वैद्य लोग पधारे। अत्यन्त गम्भीर मुद्रामें नाड़ी थामी गई, उंगलियोंने बात, पित्त, कफकी सरगम नापी, परस्पर कुछ चोंचें लड़ीं, माधव निदानके श्लोकोंका शुद्ध-अशुद्ध उच्चारण हुआ और बड़ी सावधानीके साथ कुछ रस-भस्में उतारी गईं, पर बिल्कुल उसी तरह जैसे अंगरेजी राजके बागी उस ज़मानेमें खैबरका दर्रा पार कर जाते थे।

तब हकीम जी तशरीफ़ लाये; अपना चोगा कन्धों पर और पान मुँहमें सँभाले हुए। अपनी खानदानी हिकमतपर योंही एक-आध उड़ता-सा इशारा डालकर, आपने नब्ज़ देखी, दिल टटोला और चेहरेपर गौर फरमायी। कुछ समझमें नहीं आया, फिर भी बहुत गंभीरताके साथ माजूने दिलकुशाको शर्बते दीनारमें मिलाकर चटाने और ऊपरसे एक छटाँक अर्क पोदीना और गुलाब मिलाकर पिलानेका मशवरा दे गये। चिमटेसे मुँह खोलकर यह भी गलेकी भट्ठीमें झोंक दिया गया, पर फूँसकी ही तरह!

तब बुलाया गया कुन्दन सयाना। उसने इसे सैयदका असर बतलाया और 'काली कलकत्ते वाली, भरले खप्पर नाच बजा ताली' का मंगलाचरण करके जाने कितने मन्तर-तन्तर पढ़े-किये, पर सैयद न उतरा। मुफ्तका तमाशा कौन न देखे। लोगोंकी भीड़ इकट्ठी हो गई।

तभी उधर आ निकले पिताजी। उन्होंने उसे देखा और पाँच मिनट उसके साथियोंसे बातें कीं। वे घरसे अपनी सूँघनी उठा लाये और दाबदी एक तकड़ी-सी चुटकी। तड़-तड़ छीं:, एक-दो-तीन। आईं पाँच-सात छींकें और खुल गई जबाड़ी! रातमें मैंने कहा—'आज तो आपने चमत्कार कर दिया।' बोले—'चमत्कार क्या था उसमें। गेहूँ इकट्ठे करनेमें दो रात जागा। बस थक गया बेचारेका पट्ठा-पट्ठा। आई जो जम्भाई तो खून रुक गया जबाड़ेका—बस जबाड़ी बन्द! छींकोंने नस नस हिलादी, खूनमें हरकत आई, जबाड़ा खुल गया।' इस तरहके उनके कई संस्मरण हैं।

तीसरी धारा थी अपने मित्रों और यजमानोंके आपसी झगड़े निमटाने में। वे दो विरोधियोंके बीचमें शक्करकी ऐसी डली बन जाते, जो धीरे-धीरे घुलकर दोनोंको मीठा कर देती। इस दिशामें तो असलमें सच्ची सद्भावना ही उनकी सूझ थी।

पति-पत्नीके झगड़ोंमें उनकी सहानुभूति हमेशा मैंने पत्नीकी ओर देखी—'अरे भाई, स्त्री तो गाय है, उसका सताना, राम-राम। वह कभी सींग भी मार दे, तो क्या? हमेशा दूध और बछड़े देती है!' यह उनकी 'दलील' थी।

उनकी यह सहानुभूति इसलिए और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि माँ का स्वभाव काफी कड़वा था, पर सच तो यह है कि वे इतने मीठे थे कि संसारकी कोई भी कड़वाहट, उन तक पहुँचते-न-पहुँचते स्वयं मीठी हो जाती थी!

* * * *

सामाजिक परम्पराओ में मैं घोर क्रान्तिकारी और भारतके बूढ़े हैं घोर दकियानूस, पर हम दोनोंमें कभी टक्कर नहीं हुई। जब मैंने सार्वजनिक रूपसे अपनी पत्नीको परदेसे बाहर ला खड़ा किया, तो मेरे कस्बे पर बिजली-सी गिर पड़ी—इस चर्चाके सिवाय लोगोंको और जैसे कुछ काम ही न था। चौधरी लोगोंने तो इसे पंचायत बुलानेका विषय समझा। पिताजी ने मुझे समझाया तो मैंने केवल एक बात उनसे कही—'पिताजी, यदि मैं आपके युगके वातावरणमें रहूँगा, तो मेरे व्यक्तित्वका विकास रुक जायेगा। आप इसे सोचलें और यदि आपकी प्रसन्नता इसीमें है, तो मैं इधर नहीं बढ़ूँगा।' आधे घंटे तक चुप बैठे रहे और तब अचानक बोले—'हाँ बेटा, तू अपने ही रास्ते पर चल। गरमियोंमें रजाई ओढ़ना ठीक नहीं है!' मैं उनकी तरफ देखता रह गया। ओह, वे कितने अच्छे थे!

मुहम्मदअली कोतवाल

मैं साइकिल रिक्शामें बैठा जा रहा था कि एक चमचमाती मोटर उस रिक्शाके पास आकर रुक गई। मोटर रुकी कि रिक्शा थमी—'सलाम ठाकुर साहब !' रिक्शावालेने मोटरवालेको वन्दना दी।

'अच्छे हो बेटा ?' ठाकुर साहबने बहुत ही लाड़से पूछा और पीछे की सीटपर शानसे बैठी अपनी ठकुराइनसे कहा—'यह है वह रिक्शा-वाला, जिसने तुम्हारे लाकेटका डिब्बा लाकर मुझे दिया था।'

ठकुराइनने रिक्शावालेको अपने पास बुलाया और बहुत ही कोमल हो, उसके सिरपर हाथ फेरा, टोकरीसे निकालकर उसे कुछ मिठाई दी और कभी अपने घर आनेको कहा।

मोटर चली, तो रिक्शावाला अपनी गद्दीपर आया—'लो, बाबूजी, मिठाई खाओ।' मैंने मिठाईका एक छोटा-सा टुकड़ा उठाकर मुँहमें रख लिया, तो उसके मुँहसे निकला—'शुक्रिया सरकार !' मेरे सफेद कपड़ोंसे उसे इस व्यवहारकी शायद आशा न थी।

मैंने कहा—'इन ठाकुर साहबसे तो तुम्हारी बहुत गहरी दोस्ती है भैया !'

बोला—'अजी, मैं क्या खाकर उनसे दोस्ती करूँगा बाबूजी ! मैं तो इन्हें जानता भी न था। उस दिन ४-५ घण्टे ये मेरी रिक्शामें इधर-उधर घूमे और जाकर स्टेशनपर उतरे। स्टेशनसे बाजार लौटकर मैंने एक सवारी बैठाई तो उसने पूछा—यह डिब्बा कैसा है ?'

मुड़कर मैंने देखा, तो जेवरका डिब्बा। मुझे याद आया कि यह डिब्बा ठाकुर साहबने सर्राफके यहाँसे लिया था और इसमें गलेका हार

है। बस सवारी मैंने उतार दी और दौड़म-दौड़ स्टेशन गया। किस्मत की बात गाड़ी तबतक छूटी न थी और ठाकुर साहब डिब्बेमें बैठे अपना अखबार पढ़ रहे थे। डिब्बा लेकर बहुत खुश हुए और मुझे पाँच रुपये देने लगे। मैंने रुपये नहीं लिए और सलाम करके चला आया। उस दिनसे बस आज ही मिले हैं!'

मैंने पूछा—'तुम्हारे दिलमें डिब्बा रख लेनेकी बात नहीं आई?'

'आई क्यों नहीं, आई थी बाबूजी, पर मैंने अपने दिलसे कहा—कम्बख्त, यह डिब्बा वे न भूल जाते, तब भी तो तू ज़िन्दा रहता, फिर क्यों अपनी ज़िन्दगीको गन्दी करता है?'

'यह तुमने बहुत अच्छा किया, पर वे पाँच रुपये क्यों नहीं लिए?'

'बाबूजी, था तो वो भी मुफ्तका ही माल और जब एकबार मुफ्त का माल खानेकी आदत पड़ जाती है, तो फिर आदमीसे मेहनत-मजदूरी नहीं होती।'

अब वह रिक्शा चलानेमें जुट गया था और मैं सोच रहा था—यह गरीब रिक्शावाला स्वतंत्र देशके श्रेष्ठ नागरिकका एक उत्तम उदाहरण है, पर हमारी जीवन-व्यवस्था कितनी दोषपूर्ण है कि समाजमें यह नगण्य है और वे अग्रगण्य जिनका काम २४ घण्टे जोड़-तोड़में लगा रहना है।

नहरका पुल आगया और उतरते-उतरते मैंने उससे पूछा—'भाई, तुम्हारा नाम?'

'नाम तो खुदा-परमेश्वरका बाबूजी, मुझे मुहम्मद अली कहते हैं।' नम्रतासे उसने कहा।

मैं झरनेपर जा बैठा, पर मेरे अन्तरमें भरा था मुहम्मदअली। मुहम्मद अली गरीब रिक्शावाला, जो स्वतंत्र देशके श्रेष्ठ नागरिकका एक उत्तम उदाहरण है। मुहम्मद अली नाटे कदका, मामूली कमीज़ पहने एक

मरियल-सा नौजवान, जो १९५७ में अपनी अभावोंभरी ज़िन्दगीकी रिक्शाको खींच रहा है।

१९५७, १९५७–१९३० और मुहम्मदअली एक शानदार सूटमें सजा-धजा लम्बा-छरहरा एक खूबसूरत नौजवान—यह मुहम्मद अली रौबीला देवबंदका कोतवाल, स्मृतियोंका तार भी पलक मारते कहाँसे कहाँ जा जुड़ता है !

१-२-३ सितम्बर १९३०; मेरी राजनैतिक ज़िन्दगीके तूफानी दिन-मेरी जन्मभूमि देवबन्दमें तहसीलकी राजनैतिक कान्फ्रेंस। शानदार मञ्च, शानदार वातावरण, गाँव-गाँवसे उमड़ आये कोई बीस हज़ार आदमी; वे नारे कि आसमानका दिल दहले और वे भाषण कि नसोंके रक्त की नदियोंमें बाढ़ें घहरा उठें।

तीन तारीखकी शाम और मैं धन्यवाद-भाषण देनेके लिए उठनेको तैयार ही कि सामने मुहम्मदअली कोतवाल। सादे खाकी कोटमें, निजी लिबासमें, पर थानेदार आखिर थानेदार, हमारी कान्फ्रेंसमें कुछ भी हो वह दर्शक होकर तो आ नहीं सकता। भाई आनन्द प्रकाश और मेरी गिरफ्तारी हर क्षण सम्भावित, हर क्षण प्रतीक्षित; सच तो यह कि हम सब आश्चर्यमें कि हम यों आग बरसा रहे हैं और सरकार चुप है !!

भाई मामचन्द जैनने धीरेसे कहा—'लो, हो जाओ तैयार !' मैंने कहा—'तैयार तो कबसे हैं, पर पूछो, तो मुहम्मद अलीसे कि बिस्तर यहीं मँगालें क्या ?'

वे गये उनके पास और पूछा, तो बोले—'मियाँ, किस चक्करमें हो ? प्रभाकरजीकी स्पीच सुनने आया हूँ। उनसे कह दो कि बेफिकरीसे काम निपटाएँ, पर लैक्चर ऐसा दें कि मेरे कान तर हो जायें।'

बोलनेको उठा, तो गला लौ-लपटसे लोहेको पिघलानेवाली बत्ती हो गया और मैंने कहा—'झण्डे धरतीकी मिट्टीमें नहीं गड़ा करते, वे गड़ा

करते हैं दिलोंकी धरतीमें। ये चारों तरफ जो तिरंगे झण्डे फहरा रहे हैं, दिलोंकी धरतीमें गड़ चुके हैं और बेचारा यूनियनजैक वहाँसे उखड़ चुका है, उखाड़कर दूर फेंका जा चुका है। अब वह नहीं टिक सकता और अंग्रेज़ उसकी इज्ज़त बचाना चाहते हैं, तो उसे लपेटकर इंगलैंड ले जाएँ। नहीं, तो जल्दी ही वे देखेंगे कि उनका यूनियनजैक फाड़कर चीथड़ा कर दिया जाएगा और तब उन्हें यह भी देखना पड़ेगा कि भारतके नगर-नगरमें फहराते तिरंगे झण्डेका बाँस उस चीथड़ेसे साफ़ किया जा रहा है।

अपने पटवारियों, थानेदारों और डिप्टी कलक्टरोंकी झूठी रिपोर्टोंके भरोसे अंग्रेज़ यह मानकर खुश हो सकते हैं कि भारतकी छातीपर उनका राज्य क़ायम है और आँखें मूँदकर बिल्लीको भाग गई माननेवाले बेवकूफ़ कबूतरकी तरह वे भी सन्तुष्ट हो सकते हैं कि यह राज्य हमेशा यों ही क़ायम रहेगा, पर हम सबने इन दिनोंमें देखा है कि अंग्रेजोंका राज्य हिन्दुस्तानियोंके दिल पर अब क़ायम नहीं है और दोस्तों, यकीन करो कि वह दिन दौड़ा चला आ रहा है, जब वह हिन्दुस्तानकी धरती पर भी नहीं रहेगा।"

जनताकी नदीमें जोशका पानी पुलपरसे उतर गया और वे नारे लगे, वे तालियाँ बजीं, वे जयकारे चहके कि मिट्टीकी देह ज़िन्दगीको अपने चोलेमें रखनेका पूरा मोल पा गई। मैंने देखा, मुहम्मद अली भी ताली बजा रहे हैं और उनका चेहरा भी इतना भाव-विभोर हो रहा है कि यह लगता ही नहीं कि वे भारतके देहाती नहीं, अंग्रेज़ सरकारके थानेदार हैं।

कोई १० दिनकी भाग दौड़से थका-चकनाचूर शरीर और बग़ावतके नशेसे मदहोश दिमाग़, ऐसी नींद आई कि देखकर मौत भी शर्मा जाए, पर सूरजके जागनेसे पहले यह कौन जगा रहा है मुझे? "लो, उठो जल्दी

और बाँधो बिस्तर, कोतवाल साहब नीचे खड़े हैं।" श्रीमती प्रभाने झंझोड़ कर मुझे कहा, तो अधमिची आँखोंसे खिड़कीमें झाँककर मैंने कहा—'आदाब अर्ज़ कोतवाल साहेब, मैं अभी आया नीचे !'

इंकारके संकेतमें उन्होंने अपना हाथ हिलाया और बोले—"आदाब अर्ज़–आदाब अर्ज़, नीचे आनेकी ज़रूरत नहीं, खुदा आपको हमेशा ऊँचाईपर रखे, वहींसे सुन लीजिये मेरी बात।"

और बात यह—"दोनोंका वारण्ट है। आनन्दप्रकाशसे कह आया हूँ। अब ५ बजे हैं। तैयार होकर आजाइए तहसील ७ बजे तक। ६ बजेकी गाड़ीसे सहारनपुर चलेंगे।"

सोचता हूँ, कैसा था वह गांधीका युद्ध कि पत्नी पतिको जेल जानेके लिए इस तरह जगाती थी कि जैसे वह डर्बीकी लॉटरीके चैकका रुपया लेनेको जा रहा हो और थानेदार आसामीको उसकी गिरफ्तारीकी सूचना इस तरह देता था, जैसे दो दोस्त साथ सिनेमा जानेका प्रोग्राम बना रहे हों।

क़िस्सा कोताह मैं तैयार होकर ७ बजे तहसील पहुँच गया और तभी आगये भाई आनन्दप्रकाश। कॉन्फ्रेंसमें आये हज़ारों आदमी अभी नगरमें थे और नगर तो था ही। बस कोई १५ हजार आदमी अब तहसीलके बाहर थे—जोशसे उफनते, पर वाहरे जोश कि उभार चहुँमुखी, हुँकार बहुमुखी, पर न दुत्कार, न फुंकार, यों कि आज चारों ओर लपटें आकाश चूमतीं, पर न धुआँ और न जलन।

"मेरा ख्याल है कि वारंट तो शाम ही आ गया था, फिर आपकी हथकड़ियाँ कल क्यों ख़ामोश रहीं ?" मैंने पूछा, तो वे ज़रा सोचमें पड़ गये और तब उठकर वे एक फाइल उठा लाये। खुद ही कुछ देर उसे देखते रहे—देखते क्या यों ही उसे आँखोंके सामने किये रहे और तब उसे भाई आनन्दप्रकाशके हाथमें दे, दूसरे कमरेमें चले गये। पढ़ कर वे बोले—"कमाल कर दिया इस मुहम्मद अलीने पण्डितजी !"

मैं जिज्ञासासे उनकी ओर देखता रहा। वे ज़रा मेरे पास सरककर धीमेंसे बोले—"हमारा वारण्ट तो ३१ अगस्तको ही आ गया था, जिससे हम दोनों कॉन्फ्रेंसमें हिस्सा ही न ले सकें, पर मुहम्मद अलीने कलक्टरको लिख दिया कि मेरी तबियत ख़राब है और इन गिरफ्तारियोंसे शहरमें जिस हंगामेकी उम्मीद है, उसे सँभालनेकी मुझमें ताक़त नहीं है। इसपर तार आया कि दो या तीन तारीखको गिरफ्तार करो, पर ताज्जुब है कि मुहम्मद-अलीने हमें तीनको भी गिरफ्तार नहीं किया और आज चार तारीखकी सुबह पकड़ा।"

तभी आ गये कमरेमें मुहम्मदअली। मैंने उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की और पूछा—"आपने हमें ३१ को ही गिरफ्तार क्यों नहीं किया?"

बोले—"मियाँ, बेटीके ब्याह की तरह आप दोनों जलसे की तैयारीमें एक महीनेसे लगे हुए थे। जलसा तो हो ही जाता, पर आप उसे देख न पाते, तो दिलको बुरा तो लगता ही।"

मैं और भाई आनन्दप्रकाश एक दूसरेको देखते रह गये। तभी बोले मुहम्मद अली—"आप लोग जो काम कर रहे हैं, उसका फल मेरी औलादको भी तो मिलेगा। कई बार मनमें आया है कि नौकरीपर लात मारूँ और आपके पास आ खड़ा होऊँ, पर बाल-बच्चोंका सवाल क़दम रोक लेता है।"

ज़रा रुक कर बोले—"और यह सवाल भी नकली है। सचाई यह है कि वह मेरी कमज़ोरी है कि मैं सचाई की राहको देख रहा हूँ, पर उसपर चल नहीं पाता।"

इतनेमें एक सिपाही आया। दो गिलासोंमें दूध और तश्तरीमें गरमा-गरम पकौड़ी लिये—"बेग़म साहिबाने आप लोगोंके लिए यह नाश्ता भेजा है।" और मुझे एक तरफ़ बुलाकर धीरेसे दो चमेलीके फूल देकर उसने कहा—"बेगम साहिबाने आपको सलाम कहा है और कहा है कि मैं ख़ुद

हाज़िर न होनेके लिए शरमिन्दा हूँ। मुझे मालाएँ भी न मिल सकीं, अपने ही पेड़के दो फूल भेज रही हूँ। खुदा आपको कामयाबी दे।"

दो फूल—उस छोटेसे गमलेमें लगे पेड़के दो फूल, स्वतन्त्रताकी बलि-वेदीपर सजे दो फूल, पर दो फूल स्वातन्त्र्य-भावनाकी बेलके एक झुरमुटेमें छिपे। सच कहता हूँ, वे दो फूल मेरी आत्मामें इस तरह भर गये कि जीवनमें फिर कभी माला पहनने की इच्छा ही नहीं हुई।

हम दोनों एक जलूसमें स्टेशन पहुँचे—मुहम्मद अली हमारे पीछे-पीछे; जैसे वही इस जलूसके कन्वीनर हों। सैकंडक्लासमें बैठाकर वे हमें सहारनपुर ले गये और स्टेशन पर फ़र्स्टक्लासके भोजनालयमें उन्होंने हमारी शानदार दावत की।

जेलके दरवाज़ेमें जब तक हमारी लिखा-पढ़ी हुई, वे सींखचे पकड़े खड़े रहे और जब हम भीतर जाने लगे, तो उनकी खूबसूरत आँखें प्यारके रससे लबरेज़ हो उठीं?

स्वतन्त्रताके युद्धमें वे भी सैनिक थे, जो अपना सर्वस्व स्वाहा कर शहीद हो गये और आज राष्ट्रकी श्रद्धा, जिनके चरणोंमें समर्पित है और स्वतन्त्रताके युद्धमें वे भी सैनिक थे, जो अपना सर्वोत्तम दाँवपर लगा जूझे और राष्ट्रकी स्वतन्त्रताका प्रसाद पा सके, पर स्वतन्त्रताके युद्धमें वे भी तो सैनिक थे, जो युद्धसे दूर खड़े होकर भी भावनासे उसके बीच थे और युद्धके दिनोंमें तो वे यों लांछित थे कि युद्धसे दूर हैं और बादमें यों उपेक्षित कि स्वतन्त्रता की स्मृतियोंमें कहीं उनका उल्लेख नहीं। मुहम्मद अली उन्हीं में एक थे!

मुखिया सुचेत

"आपका मकान कहाँ है महाराज ?" हरद्वारके वहमी और भक्त रईस बदरी बावलेने अपने यहाँ अनुष्ठानमें लगे एक ब्राह्मणकी बड़ी-बड़ी और घूरती-सी आँखोंको देखकर पूछा।

ब्राह्मणने सरलभावसे अपने अप्रसिद्ध गाँवका नाम बता दिया, पर वे नहीं समझ पाये। तब दिया उसने अता-पता "मेरा गाँव रणखण्डीके पास है लाला जी !"

"रणखण्डीके पास ? चोरोंकी रणखण्डी ?"

लाला जी चौंक उठे और उन्होंने प्रधान पण्डितको बुला कर कहा— "देखिए आज ही इस ब्राह्मणको अनुष्ठानसे अलग कर दीजिए। यह रणखण्डीके पासका रहने वाला है, किसी दिन ज़रूर मेरा घर लुटवा देगा।"

ग़रीब ब्राह्मण रणखण्डीका पड़ौसी होनेके कारण एक रुपया रोज़ और तर मालकी वृत्तिसे पृथक् कर दिया गया। यह उन्नीसवीं सदीके अन्तिम दिनोंकी बात है।

रणखण्डी सहारनपुर ज़िलेकी देवबन्द तहसीलका एक बड़ा गाँव है। यहाँ की प्रधान जाति राजपूत है। प्रसिद्ध है कि महाभारतका रणस्तम्भ यहीं स्थापित हुआ था, इसीसे उसका यह नाम पड़ा। ख़ैर, यह तो पुरानी बात है, पर बींसवीं सदीके आरम्भिक दो दशकों तक इस गाँवके निवासियोंका प्रधान व्यवसाय चोरी और डकैती था। पाँच घड़ी रात गये वीर राजपूत टोलियाँ बाँध कर इधर-उधर निकल जाते और पाँच घड़ी रात रहते-न-रहते लौट आते, पर इन्हीं कुछ घड़ियोंमें जाने कितने घरोंके दीपक बुझ जाते और प्रकाश अन्धकारमें बदल जाता।

आस-पासके ज़िलों तकमें रणखण्डीकी धूम थी—थानेदारोंकी घोड़ियाँ, जमींदारोंके बैल, सेठानियोंके जेवर और साहूकारोंकी तिजोरियाँ सदा खतरे में रहती थीं। बहू-बेटियोंको लेकर रणखण्डीके पाससे निकल जाना असम्भव था। चारों ओर रणखण्डीका आतंक था।

*   *   *   *

आतंकके इस युगकी जो कहानियाँ वाणीके पंखों पर चढ़ीं अभी तक जनसाधारणमें विचर रही हैं, वे कहती हैं कि उस कालमें भी रणखण्डीके राजपूतोंकी एक अपनी अदा थी—एक अपना बाँकपन था!

जेठकी भरी दोपहरी और प्याससे सूखा गला; रणखण्डीका एक निवासी कहींसे चला आ रहा था। राहके गाँवकी एक दहलीजमें बैठी एक तरुणी चर्खा कात रही थी। उसने अपनी देहाती टोनमें कहा—"ए बोब्बो! ला हमैं थोड़ा-सा ठण्डा पाणी प्यादे।" लड़की जाने किस मूडमें थी। तुनक कर बोली—"पाणी क्या, मैं तो तुझे शरबत प्याऊँगी!"

अपमानित राजपूत लौट आया, पर आते-आते पता ले आया—यह बढ़ईकी लड़की है, अभी विवाह हुआ है, अगले मास गौना है, अमुक गाँव ब्याही है। उस गाँवका रास्ता रणखण्डीके पाससे ही जाता था। गौनेका दिन आया, लड़की विदा हो चली, उसका रहड़ू (बैल-तांगा) ढाकेमें से गुजर रहा था कि किसीकी लाठी बहलवानके कन्धोंपर पड़ी। वह नीचे गिरा कि बैल रुके। अब रणखण्डीका राजपूत ताँगेके पास और पति-पत्नी सन्न!

"घबरानेकी बात नहीं, हम किसीकी जान नहीं लेते!" यह राजपूतकी आवाज़ थी। "तो हमारे पास जो कुछ जेवर, रुपया-पैसा और कपड़ा-बर्तन है, तुम लेलो!" यह पतिकी प्रार्थना थी। "नहीं, यह सब हमें नहीं चाहिए। आज तो फैसला यह है कि यह सब तुम्हारा और बहू हमारी!" यह राजपूतकी घोषणा थी!

पति काँप उठा, पत्नी अपने घूँघटमें और भी सन्न रह गई। अचानक लड़कीने राजपूत की ओर झाँका। वह उसे पहचान गई और जाने उसे क्या सूझा कि उसने उधर मुड़कर अपना घूँघट खोल दिया। हाथ जोड़कर बोली—"तुम मेरे भाई हो, अब मुझे किसीका क्या डर?"

"मैं क्यूँ होत्ता तेरा भाई?" कड़ककर राजपूतने कहा, पर लड़कीमें इस समय निराशाकी आखिरी घड़ियोंमें उभरनेवाला दुःसाहस जाग उठा था। उसने बातको बीचमें ही काटकर कहा—"क्यों, तुमने उस दिन मुझे अपनी बोब्बो (बहन) नहीं कहा था?"

राजपूतके कन्धे ढीले पड़ गये। किसीसे झटके हुए पाँच रुपये उसकी अण्टीमें लगे थे। निकालकर उसने लड़कीके हाथमें रख दिये और उसका खुला घूँघट अपने हाथसे ठीक कर दिया। यह आदमी जब तक जिया, भैया दोयजको अपनी इस मुँह बोली बहनके यहाँ पहुँचा!

* * * *

देवबन्दमें एक थानेदार थे भगवानदास। कमानेमें चतुर थे, खर्चने-खानेमें उदार और घोड़ेके शौकीन। उनकी काली घोड़ी राजहंसिनी-सी यों चलती कि सवारके पेटका पानी न हिले; जो देखता, देखता ही रह जाता—मुहावरेकी भाषामें उसपर मक्खियाँ फिसलती थीं।

एक दिन तहसीलके बाहर साईस उसे घुमा रहा था और एक देहाती खड़ा उसे टुकुर-टुकुर देख रहा था। साईसने उसे दो बार जानेको कहा, पर वह नहीं हटा, घोड़ीको घूरता रहा। उस युगमें थानेदारका साईस भी अपनेको कुछ समझा करता था। तीसरी बार ज़रा झिड़ककर उसने कहा—"कहाँ रहता है तू?" उत्तर मिला—"रणखण्डी।"

बिना कहे भी दर्शकको चोर घोषित करते हुए साईसने कहा—"जा, अपना काम देख। जहाँ यह घोड़ी बंधती है, वहाँ तू तो क्या, हवा भी नहीं जा सकती!"

उस दर्शकने बेहद ठंडा, पर गहरे विश्वाससे भरा उत्तर दिया—"जानेकी बात मत कर मेरे भाई, जानेको तो जहाँ हवा नहीं जा सकती, वहाँ भी आदमी पहुँच जाता है।"

कोई १० दिन बाद सुबह-ही-सुबह उठकर साईसने कोठेका ताला खोला, तो धक, भीतर घोड़ी नहीं थी। रात ६ बजे घोड़ीको घास डालकर उसने ताला खुद बन्द किया था। वह सुबह लगाका-लगा मिला। फिर दरवाज़ेसे खाट अड़ा कर वह सोया था—रात उठकर कहीं गया भी नहीं, तो घोड़ी कहाँ गई ?

ख़बर हवाके घोड़ेपर सवार। थानेदार आया, छोटा थानेदार आया, खुफिया पुलिसके दीवानजी आये, तू आया, मैं आया। साईसकी एक ही रट—"सरकार, घोड़ी कहाँ गई ?" और थानेदारका एक ही प्रश्न—"घोड़ी कैसे गई ?" कोठेमें हवा आनेके लिए पीछेकी दीवारमें एक मामूली खिड़की थी। खुफिया पुलिसके दीवानजीने कहा—"घोड़ीको इस खिड़कीसे बाहर निकाला गया है।" सुनकर सब हँस पड़े और झल्लाकर थानेदारने कहा—"मियाँ, घोड़ी थी या खरगोशका बच्चा कि सिसकारी देते ही खिड़कीसे छलांग गया !!"

तभी याद आया साईसको वह रणखण्डीका राजपूत और उसने वह बात सबसे कही। सब मान गये कि घोड़ी रणखण्डी गई है और बस तीन घण्टे बाद पुलिसने रणखण्डी गाँव घेर लिया। घेर लिया और घर-घरकी वो तलाशी हुई कि गड्ढोंके मेंढक भी बाहर आ गए; पर घोड़ी न मिली।

मुखियाकी चौपाल पर थानेदार भिन्नाया बैठा था कि एक आदमीने आकर कहा—"सरकार, जहाँ घोड़ी बँधती थी, वहाँ आदमी तो क्या, हवा भी नहीं जा सकती, फिर घोड़ी कौन ले गया ?" थानेदारके दिमाग़में सपनेकी कड़ी-सी जुड़ गई और उठकर उन्होंने उस आदमीका हाथ थाम लिया, पर घरसे भागते चोरकी तरह नहीं, घर आते मेहमानकी तरह और

बोले—"अच्छा, हम हारे तुम जीते, पर अब यह बताओ कि घोड़ी कहाँ है ?"

वह आदमी थानेदारको साथ ले, गलीमें होकर अपने घर गया और जीना चढ़ छतपर आया। छतपर चरीकी कुछ पूलियाँ लगी हुई थीं। उसने एक तरफ़से पूलियाँ इधर-उधर फेंकीं, तो थानेदारने देखा कि पूलियोंकी चारदीवारीके बीचमें चारों पैर और मुँह बँधे उनकी काली घोड़ी लेट रही है।

"ले जाओ दरोगाजी, अपनी घोड़ी।" उसने कहा, पर चमत्कार यह कि घोड़ी छतपर चढ़ी कैसे और मुश्किल यह कि अब उतरे कैसे ? अन्तमें चढ़ाने वालेने ही उसे जमीन पर उतारा और वह चौपाल पर आई।

"अच्छा, यह बताओ कि घोड़ी ताला-बन्द कोठेसे बाहर कैसे आई ?" थानेदार जाननेको उत्सुक था और बतानेवालेको झिझक न थी। घोड़ी पीछेकी छोटी खिड़कीसे ही निकाली गई थी, पर सब मान गये कि सर-कसके नट भी यह चमत्कार नहीं कर सकते !

खुशी-खुशी सब गाँवसे चले, तो छोटे थानेदारने कहा—"इस चोरको गिरफ्तार कर लूँ; मुद्दा तो बरामद है ही !"

हँसकर वे बोले—"न इसने चोरी की, न हमने मुद्दा बरामद किया; फिर गिरफ्तारी किस बात की ?"

"क्यों, चोरी क्यों नहीं की ?"

"ताला ज्यों-का-त्यों बन्द और घोड़ी साफ़; यह चोरी है या इन्द्रजाल ? फिर इस आदमीका बाँकपन तो देखिए कि घोड़ीका खुद पता बताया और मुझसे कोई शर्त तक नहीं की—कोई वादा नहीं लिया। गिरफ्तारी नहीं, मैं तो सोच रहा हूँ कि एक दिन इसकी शानदार दावत की जाय !"

आगे चलकर रणखण्डीमें एक आदमी जन्मा, जिसने अपने गाँवके

इस बाँकपनको पहचाना और अपनी बुद्धिका सहारा दे ऊंचा उठाया। यह मुखिया सुचेतसिंह थे !

सुचेतसिंहका जन्म १६ वीं सदीके अन्तिम दशकके आस-पास हुआ था—रणखण्डीके एक राजपूत वंश में। जाने कैसे बहुत मामूली-सी उर्दूकी शिक्षा उन्हें मिली थी। खत लिखते थे, किताब बाँचते थे। विद्वानों की संगति उन्हें कहाँ मिलती, पर वे प्रतिभाके भण्डार थे और उनके मस्तिष्कका विकास इतना उच्चकोटिका था कि देखकर आश्चर्य होता था। मेरा विश्वास है कि यदि आजके हाईकोर्टोंको बादशाही प्रणाली में बदल दिया जाय—उनमें कानूनकी जगह न्यायाधीशकी निर्णय-बुद्धिको प्रधानता मिले—तो मुखिया सुचेत किसी भी हाईकोर्टके प्रतिष्ठित जज हो सकते थे !

अपने गाँवके तो वे हाईकोर्ट थे ही। न जाने कितने झगड़े उन्होंने हँसते-हँसते निमटा दिये थे—निमटाते ही रहते थे। उनके मुखिया होनेसे पहले रणखण्डी फौजदारीके मुकदमोंका घर था, पर उनके प्रभाव, न्याय-शीलता और निरन्तर मूक प्रचारने वहाँ फौजदारीको असम्भव कर दिया था।

१६२४-२५ में उत्तरी हिन्दमें बहुत-सी डकैतियाँ पड़ीं और एक रेल-गाड़ी भी लूट ली गई। पुलिसने गाँव-गाँवमें घूमकर सन्दिग्ध व्यक्तियोंको गिरफ्तार किया। पुलिस रणखण्डी भी पहुँची और मुखियाजीसे उनके गाँवके बदमाशोंकी लिस्ट माँगी। सारा गाँव काँप गया, पर उन्होंने अपने शान्त स्वरमें उत्तर दिया—"मेरे गाँवमें कोई बदमाश नहीं है।"

रणखण्डीमें बदमाशोंका अभाव, एक आश्चर्यजनक बात थी। पुलिसने फिर अपनी बात दोहराई, तो वे बोले—"यहाँ एक ही बदमाश है और वह मैं हूँ। आप चाहें, तो मुझे गिरफ्तार कर सकते हैं !" थानेदारकी भवें चढ़ गईं, पर हमारा मुखिया भी रबड़का गुब्बारा न था कि फूँक

मारते ही फट जाए। इसलिए गुस्सेकी घूँट पीकर थानेदारने ज़रा रौबसे कहा—"भला यह कैसे हो सकता है कि रणखण्डीमें कोई बदमाश ही न हो?"

मुखियाकी आँखें थानेदारकी गरमी और नरमीको तोल ले गईं और तब उसने एक गहरी-सी खुराक घोली—"जनाब, मैं आपसे मज़ाक नहीं करता, यह वाक़ा है कि यहाँ कोई बदमाश नहीं है। आपको यक़ीन न आये, तो आप अपनी 'रपटकी किताब' देख लें कि पिछले तीन वर्षोंमें यहाँका नाम भी उसमें नहीं है और यह भी तहकीकात करलें कि इन वर्षोंमें यहाँ एक भी फौजदारीका मुकदमा नहीं हुआ!" थानेदारकी आँखें खुल गईं और उसे अपनी हथकड़ियाँ खाली लिये लौटना पड़ा।

जहाँ दूसरे मुखियाओंने 'सरकारी खुशनूदी' हासिल करनेके लिए अपने-अपने गाँवके दस-दस बीस-बीस युवकोंको जेलमें ठुसवा दिया, वहाँ सुचेतसिंहकी योग्यता और निडरताने यही नहीं कि गाँवके युवकोंकी रक्षा की, किन्तु गाँवके सम्मानको भी सैकड़ों गुना बढ़ा दिया। इसके बाद एक दिन मैंने उनके साहस और बुद्धिमत्ताकी प्रशंसा की, तो बोले—'गाँवके भले आदमियोंको मैंने बुरा नहीं बताया, इसे कौनसे शास्तरमें साहस लिखा है पण्डतजी?"

* * * *

उनका मस्तिष्क किस कोटिका था और वे झगड़ोंका निर्णय किस पद्धतिसे करते थे, इसका एक ही उदाहरण काफी है। रणखण्डीके पास एक गाँव है। इन दोनोंकी सीमा पर रणखण्डी निवासी एक तेलीके खेत थे और वह झोंपड़ी डालकर वहीं रहता था। एक दिन किसीने तेलीकी झोपड़ीके सामने उस गाँवके भैंसेको घायल कर दिया। खून वहाँ अभी तक पड़ा था, इसलिए गाँववालोंका सन्देह उसी पर गया। रणखण्डीके

आदमीको दूसरे गाँवके लोग दण्ड तो दे न सकते थे, यह मुखियाजीका प्रभाव था; इसलिए उन्होंने उसकी शिकायत मुखियाजीसे की।

वे मौके पर पहुँचे। अब भी खून वहाँ पड़ा था, पर तेलीका बयान था कि जिस दिन यह दुर्घटना हुई, उस दिन यहाँ मैं था ही नहीं। मुखिया बीस-पचीस मिनट तक वहाँ खड़े सोचते रहे। फिर उन्होंने उस जमीनको बहुत गौरसे झुककर देखा और झपटकर उस जामुनके पेड़ तक पहुँचे, जिसके नीचे यह दुर्घटना हुई थी। उसे बहुत देर तक देखते रहे।

तब वे उस गाँवमें पहुँचे, जिसका भैंसा था, पर रास्तेमें उन्होंने अपनी बातचीतका ढंग ऐसा कर लिया कि भैंसेके मामलेका जैसे उनके वहाँ जानेसे कोई सम्बन्ध नहीं। गाँवमें पहुँचकर भी वे इधर-उधरकी बातें करते रहे। बातचीतमें ही उन्होंने अपने लिए कुछ रस्सोंकी ज़रूरत बताई। अब भैंसेको लोग भूल गये और अपने-अपने रस्से लाकर मुखियाको दिखाने लगे। मुखिया उन्हें देखते और लोगोंकी आँख बचाकर धीरेसे सूँघते भी जाते। एक चमारका रस्सा देख-सूँघकर वे हँस पड़े और उन्होंने रस्सेके मालिक दोनों चमार भाइयोंको बुलाया। वे आकर खड़े हुए कि मुखियाने उस गाँववालोंसे कहा—"लो भाई, ये हैं तुम्हारे चोर—इन्होंने उस भैंसेको मारा है।" मुखियाने पाँच ही मिनटमें उनसे यह कबूल करवा दिया कि हाँ, इस भैंसेने हमारा खेत खराब किया था, गुस्सेमें हमने इसे मारा।

मैंने उनसे पूछा—"आपकी इस कार्यवाहीका रहस्य क्या है?" मुसकराकर बोले—"मुझे यह खयाल हुआ कि इतने तगड़े भैंसेको एक-दो आदमी नहीं मार सकते—वह पहली चोट पर ही जंगलमें उड़ जायेगा। उसे पेड़से बाँधकर मारा होगा। मेरा अन्दाज़ ठीक निकला, क्योंकि जामनकी छाल उखड़ी हुई थी। जामनकी गन्ध देर तक टिकती है, यह मैं जानता था। बस मैंने सोचा कि अगर वह रस्सा मिल जाये, जिसमें बाँधकर भैंसा

घायल किया गया है, तो ज़रूर उसमें जामनकी गन्ध होगी और सम्भव है छालका रंग भी हो। इसी धुरवे पर मैंने उस गाँवके रस्से मँगाये और मैं कामयाब हो गया।"

अपने ज़िलेकी जजीके वे असेसर थे और अक्सर मुकदमे सुना करते थे। एक जज महोदयने एक बार कहा था कि उनकी राय बड़े मार्केकी होती थी और हमें उनसे बड़ी मदद मिलती थी। जज साहबके शब्दोंमें- वे तो असेसर क्या जज ही थे!"

* * * *

एक दिन वे हाथोंमें थाली लिये गाँवमें घर-घर घूम रहे थे। थालीमें रोली थी, चावल थे, फूल थे—वह पूजाकी थाली थी; उसमें कुछ रुपये पड़े थे, कुछ रुपये घर-घरसे पड़ रहे थे।

मैं अचानक गाँव पहुँच गया। आरम्भमें ही जो मनुष्य मिला, उसकी घोषणा थी—"दुनियामें गोदान होता है, हमारे मुखिया आज साण्डदान कर रहे हैं।" बात यह थी कि यह एक ग़रीब ग्रामीणके लड़केकी शादीका चन्दा था।

मैंने कहा—"लोग इस चन्देसे बहुत नाराज़ हैं आपसे।" बोले—"अब नाराज़ीका कोई डर नहीं, काम पूरा हो गया है।" थोड़ी देर बाद बोले—"पण्डित जी, गाँव उसे बहू न देता, तो वह गाँवकी बहू-बेटियोंको ही तो तकता।" मैंने अक्सर सोचा है कि कितने यथार्थवादी थे मुखिया सुचेत सिंह।

* * * *

इतना सब गाँवके लिए करके भी वे बहुत दूर तक निरभिमान थे। स्वयं सारा काम करके श्रेय दूसरोंको दे देते थे। वे बहुत धीरे-धीरे बोलते थे; इतने धीरे कि कानोंको चौकन्ना रखना पड़ता था। उनका हरेक शब्द बहुत नपा तुला होता था। हर बारेमें बहुत जल्दी राय कायम कर लेते थे।

उनका कद लम्बा, शरीर छरहरा, ललाट उन्नत और आँखें फैली हुईं थीं। वे दर्शनोंका उर्दू अनुवाद पढ़ा करते थे और कभी-कभी ऐसे सवाल पूछते थे कि स्तब्ध रह जाना पड़ता था।

उनका दृष्टिकोण बहुत उदार था। आर्यसमाजी उन्हें अपना समझते थे और सनातनी अपना। गाँवके सभी कार्योंमें उनका पूरा हाथ रहता था—घटनाओंका चक्र कहीं घूमे, उसकी धुरी वही होते थे। रणखण्डी एक आदर्श गाँव बने, यही उनके सब प्रयत्नोंका लक्ष्य था।

अज्ञान और हीनताके उस युगमें किसी गाँवमें निर्माणका कोई काम करना सुगम न था, पर उनकी काम करनेकी कला यह थी कि वे कामको दूसरोंका काम बना देते थे। उसे दूसरोंसे आरम्भ कराते और स्वयं पूर्णता तक पहुँचा देते थे।

१९२७–२८ में मैं पहली बार रणखण्डी गया और उनसे मिला। मेरा उद्देश्य वहाँ एक संस्कृत पाठशाला खुलवानेका था। मेरी बात सुनते ही मुझसे बोले—"पाठशाला खुलवाना चाहो या यों हीं घूमने आए हो?" मैंने कहा—"नहीं, पाठशाला ही खुलवानी है, जिससे देहातोंमें विद्याका प्रचार हो।"

बोले—"चुपचाप बिना किसीसे मिले आज अपने घर लौट जाओ। ५–७ दिन बाद फिर आइयो और दूसरी पट्टी की चौपालपर ठहरियो। वहाँके नम्बरदारसे अपनी बात कहियो और उनसे ही गाँवके लोगोंकी मीटिंग बुलवाइयो। बस पाठशाला खुल जायगी, पर हाँ किसीसे या बात बताइयो मत कि मेरी आपकी मुलाकात हुई थी।"

मैंने ऐसा ही किया। दूसरी पट्टीमें मीटिङ्ग बुलाई गई और मैंने सबको पाठशालाके लाभ बताये। मुखियाजीने उसका हल्कासा विरोध किया और राहमें आनेवाली दिक्कतोंकी चर्चा की, पर यह सारा विरोध नकली था और इसका उद्देश्य वास्तविक विरोध करनेवालोंको ही उसका

संयोजक बना देना था। उनकी नीति सफल हुई और धूमधामसे पाठ-शाला खुल गई।

एक वर्ष बाद इस पाठशालाका उत्सव मनाया गया। तीन दिन तक कोई १०–१५ हज़ार आदमियोंकी उपस्थिति होती रही। यज्ञ हुआ, भाषण हुए; धूम रही। उत्सवकी समाप्ति पर गाँवके सब प्रमुख पुरुष मुखिया सुचेतके चबूतरेपर बैठे थे और उत्सवकी सफलतापर बातें हो रही थीं। किसीने कहा—"उत्सव तो ऐसा हुआ, जैसा कभी सुना भी न था, पर चन्देमें रुपये कम आये।" सब लोग इधर ढल गये और रुपयोंकी कमी पर बात आ गई।

धीरैसे मुखियाजी बोले—"या बात राजाओंके सोचनेकी नहीं है।" सब लोग चुप हो गये। मैंने धीरेसे कहा—"फिर राजाओंके सोचनेकी क्या बात है?" बोले—"उत्सवसे गाँवकी इज्जत बढ़ी या घटी, जो लोग बाहरसे आए, उनकी मेहमानदारी ठीक हुई या नहीं और दूसरे गाँवोंसे आनेवालोंने यह सोचा या नहीं कि भाई, रणखण्डीमें जो हुआ, वह हमारे गाँवमें नहीं हो सकता था, राजाओंके सोचने की ये बातें हैं।" यह विशाल दृष्टि ही मुखिया सुचेतसिंहके जीवनकी सञ्जीवनी बूटी थी, जिससे वे अपने गाँवको निर्माणके पथपर लगा गये।

क्या उनकी दृष्टिमें उनका ग्राम ही ग्राम था और कुछ नहीं? एक दिन इस प्रश्नका उत्तर अनायास मुझे मिल गया था।

१९३० का सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था। एक दिन रातमें मैंने कहा—"अब तो वह समय आगया है, जब आप भी इस आंदोलनमें कूदें।"

धीरेसे बोले—"यों कूदनेमें क्या मज़ा?"

बहुत धीरेसे मैंने कहा—"फिर किस तरह?"

बहुत ही धीरेसे बोले—"सारा गाँव कूदे!"

बस बात यहीं तक रह गई। सुबह मैं जब चला तो बोले—"अभी

आन्दोलन तो खतम होता नहीं। देखो, कभी हमारा भी नम्बर आही जागा!"

मैंने कहा—"तो मैं उम्मीद रखूँ?"

बोले—"हाँ, या तो पूरी तरह या कतई नहीं!"

उन्होंने हाथ जोड़े और मेरा तांगा चला। यह मेरी उनकी अन्तिम बातचीत थी। मैं कुछ दिन बाद जेल चला गया और वे प्लेगके प्रकोपमें स्वर्गवासी हो गये।

उनके बड़े-बड़े संकल्प उनके साथ चले गये, पर वे जो कर गये वही क्या कम है?

उनका ध्यान आते ही दीखता है, मैं तांगेमें बैठा हूँ और वे हाथ जोड़ रहे हैं—"हाँ, या तो पूरी तरह या कतई नहीं।"

यह 'पूरी तरह' एक सूत्र है। इसकी व्याख्याके लिए काश! मुखिया हमारे बीच रहे होते और खेड़ा, चम्पारन एवं बारडोलीकी सूचीमें वे रणखण्डीका नाम चढ़ा पाते!

हज़रत मौलाना मदनी

शेखुल हिन्द मौलाना हुसैन अहमद मदनी एक इतिहास-पुरुष थे—तारीखी इंसान थे, हदीस—इस्लामी धर्मशास्त्रके विश्वविख्यात विद्वान् थे, देशकी सबसे महान् मुस्लिम शिक्षा-संस्था दारुल उलूम देवबन्दके प्रिंसिपल थे, वे जीतेजी शहीद थे, आचार्य-सन्त थे, संक्षेपमें, एक महान व्यक्तित्व—एक ऊँची शख्सीयत थे, पर उनकी ज़िन्दगीके इंसानी पहलू इतने मुलायम और मनोरम थे कि उनके पास बैठकर लगता था कि मैं चटाईपर नहीं, उनकी गोदमें बैठा हूँ। ओह, कितने मीठे, कितने प्यारे, कितने भले और कितने भोले इंसान थे वे!

यह कौन है? ताँगा जा रहा है और उसमें बैठे हैं एक बुजुर्ग। ताँगा दूकानके सामनेसे गुज़रता है और दूकानदार अपनी गद्दीपर खड़ा होकर उन्हें सलाम करता है। यों ही ताँगा चलता रहता है, लोग उठकर सलाम करते रहते हैं। जवाबमें सबको बड़प्पनसे ऐंठता गर्दनका झटका नहीं, प्यार-मुहब्बतभरा सलाम मिलता रहता है। यह कौन है, जिसके सामने झुककर इतने लोग सुख पाते हैं, जैसे उन्होंने अभी-अभी कोई सत्कर्म किया हो? यही हैं मौलाना मदनी—हरेकके लिए अपने।

यहीं कहूँ, यही थे मौलाना मदनी, जो अब नहीं हैं, वे अपनी जगह एक इंसान थे और इंसानोंसे यह दुनिया भरी है, पर यह एक ऐतिहासिक सचाई है कि उनकी जगह आज खाली है और सदा-सदा तक खाली ही रहेगी—उसे भरनेवाला कोई नहीं है।

१९३० का आन्दोलन पूरी तेज़ीपर आने लग रहा था और जगह-जगह विदेशी कपड़ोंकी दूकानोंपर पिकेटिंग शुरू हो रही थी। स्वर्गीय भाई आनन्दप्रकाश बेचैन थे कि देवबन्दमें भी विदेशी कपड़ेपर पिके-

टिंग शुरू हो, पर हमलोगोंसे शराबका पिकेटिंग ही नहीं सम्भल रहा था और कभी-कभी पूरे दिन भाई मामचन्द जैनको इकले वहाँ खड़े रहना पड़ता था। भूखे-प्यासे उनका मुँह सूख जाता और पैर भारी हो जाते, पर अपनी अखण्ड निष्ठाके बल वे खड़े रहते, क्योंकि उन्हें बहलानेके लिए कोई दूसरा स्वयंसेवक ही न मिल पाता! फिर शराबकी तो एक दूकान थी, पर कपड़ेका तो पूराका पूरा बाज़ार था।

उसके लिए ८० स्वयंसेवकोंकी आवश्यकता थी। इन्हें जुटानेका जिम्मा मैंने लिया और देहातोंमें जल्सोंकी झड़ी बाँध दी। कुछ ही दिनोंमें ८० स्वयंसेवक इकट्ठे हो गये। सत्याग्रह आश्रममें रखकर हमने उन्हें 'ट्रेंड' किया कि वे किस तरह दूकानके सामने खड़े रहें, किस तरह गाहकसे बातें करें और जब वह न माने, तो किस तरह दूकानके सामने लेट जायँ। यह भी कि लाठी चार्ज हो, तो किस तरह उसे झेलें और गिरफ्तारी हो, तब किस तरह जायँ!

तै हुआ कि पहले दिन स्वयंसेवक पेट्रोलिंग करें—दूकानपर खड़े न होकर बाजारमें घूमते और विदेशी वस्त्र-विरोधी नारे लगाते रहें, दूसरे दिनसे बाक़ायदा पिकेटिंग शुरू हो। मैंने एक जलूसके साथ स्वयंसेवकोंको बाज़ारमें घुमाया और उन्हें टोलियोंमें बाँटकर चला आया। ऐसे नारे लगे कि वातावरण जोशसे भर गया और बजाजोंके दिल हिल गये, पर शामको नक्शा एकदम बदला हुआ था।

"पण्डितजी! मैं मुसल्मान बजाज की दूकानपर पिकेटिंग नहीं करूँगा।" यह मैं असलमें हम थी, क्योंकि हरेकका यही जवाब था।

"क्यों, क्या बात है?"

"हममें मरनेकी ताकत नहीं है।"

धीरे-धीरे बात खुली। एक छोटेसे क़दके मुसल्मान बजाज थे। नाम तो खुदा मालूम क्या था उनका, पर सब उन्हें चिड़िया बजाज कहा करते

थे। दिनमें जो भी स्वयंसेवक उनकी दूकानके सामनेसे गुज़रा, उन्होंने उसे भैया-बेटा कहकर दूकानमें बुलाया और एक तेज़-चमचमाता छुरा दिखाया—"भैया, कल जो भी वालंटियर किसी मुसल्मान बजाजकी दूकानपर खड़ा होगा, उसके पेटमें यह छुरा भोंक दिया जायगा। अँग्रेज़ कलक्टरने कह दिया है कि हम न किसीको गिरफ्तार करेंगे, न मुकदमा चलायेंगे। तुम्हें भला आदमी समझकर मैंने यह बात बता दी है। कोई और कहीं खड़ा हो, तुम मुसल्मानकी दूकानपर अपनी ड्यूटी मत लगाना।"

रामने श्यामसे कहा, इसने उससे। सब स्वयंसेवकोंमें यह बात फैल गई। गाँवोंके सीधे-सादे अनपढ़ नवयुवक डर गये और यही डर रातमें हमारे सामने आया—"पण्डितजी, मैं मुसल्मान बजाजकी दूकानपर पिकेटिंग नहीं करूँगा।"

८० आदमियोंने दिनभर बाजारोंमें दहाड़-दहाड़कर ऐलान किया है कि कलसे पिकेटिंग होगा और किसी तरहका कपड़ा नहीं बिकने दिया जायगा, पर इस स्थितिमें पिकेटिंग कैसे हो? बड़ी गहरी गाँठ है, पर यह खुले कैसे?

रातमें १० बजे मैं मौलाना मदनीके घर पहुँचा। वे कुछ लोगोंके साथ बैठे बातें कर रहे थे। मैंने अपनी बात कही। वे गम्भीर हो गये। मौलवी ज़ौर गुल भी वहाँ बैठे थे। बोले—"मुसल्मानोंकी दूकानोंपर पिकेटिंग मत करो। मैं आज ही दिल्लीसे आया हूँ, वहाँ भी यही हो रहा है।"

मौलानाने मेरी तरफ देखा, तो मैंने कहा—"मैं तो ऐसा कर नहीं सकता, पर आप इसे मुनासिब समझते हों, तो मैं कल यह ऐलान करा दूँगा कि पिकेटिंगके इंचार्ज मौलाना मदनी बनाये गये हैं। इसके बाद भी काम मैं करता रहूँगा, पर नाम और हुक्म आपका रहेगा।"

इसके लिए कोई तैयार नहीं हुआ और गाँठ ज्योंकी त्यों रही। ऊब कर मैंने कहा—"तो फिर राह कहाँ है हज़रत?"

मौलाना बोले—"आप ही बताइये राह, मैं तो आपका वालंटियर हूँ।"

जाने मुझे क्या हुआ कि मेरे फूटे मुँहसे निकला—"मुश्किल तो यही है कि आप खुले आम झूठ बोलते हैं !"

कहनेको कह तो गया, पर बोझ इतना पड़ा कि आँखें उठाये न उठीं। तभी मौ० ज़ौरगुलके सरहद्दी पंजेने मेरा गला दबाया और नरसिंहे जैसी आवाज़में कहा—"ओः शाला, हम तुम्हें ठीक करेगा !"

मौलानाकी आँखोंमें गरमी आई कि ज़ौरगुल हटे। मैंने सकुचाकर मौलानाकी तरफ़ देखा, तो वे हाथ जोड़े हुए थे। एक सपाकेमें मेरे हाथ उनके पैरोंसे जा लगे। बोले—"ज़ौरगुल साहबकी बातके लिए आप मुझे माफ़ करें और इसे सच मानें कि मैं आपका वालंटियर हूँ।"

उठते-उठते मैंने ज़ौरगुलसे बदला-सा लेते हुए हज़रतसे कहा—"देखिये, जो मैं कहूँगा, वह आपको करना पड़ेगा; क्योंकि आप वालंटियर हैं।"

बोले—"बेशक, लेकिन वालंटियरका बदन देखकर वज़न रखियेगा।"

हम सभी हँस पड़े। मैं चला आया। मेरी सफलता अब मेरी कल्पनाकी मुट्ठीमें थी। दूसरे दिन अपने ८० वालंटियरोंके साथ मैंने एक जलूस निकाला और कड़क कर खुद ऐलान किया—"कुछ बजाजभाइयोंने हमारे वालंटियरोंको छुरे दिखाये हैं और कत्ल करनेकी धमकियाँ दी हैं। इसलिए कांग्रेसने पिकेटिंगपर अपनी पूरी ताकत लगानेका फैसला किया है। अब कल या परसोंसे पिकेटिंग होगा और उसमें शेखुल हिन्द मौलाना हुसैन अहमद साहब मदनी और उनके साथ दूसरे चुने हुए लोग भी हिस्सा लेंगे। मैं अपने छुरेबाज़ दोस्तोंसे दरखास्त करता हूँ कि वे अपने छुरोंकी धारें तेज़ रक्खें औरतै यार रहें !"

ऐलानकी गर्वीली गरजमें नारोंकी गहरी गूँजसे मिलकर शहीदकवि ओमप्रकाशकी कविता तड़क उठी—"देखना है ज़ोर कितना बाजुए कातिल

में है ।" लोगोंके रोंगटे खड़े हो गये और शहरभरमें एक सनसनी-सी फैल गई । हमारे स्वयंसेवकोंकी छातियाँ चौड़ी हो गईं, जनताकी सहानुभूति हमारे साथ आ गई, बजाजोंका बल हिल गया और चिड़िया साहबपर चारों ओरसे ताने बरसने लगे । यह हमारी आन्दोलनात्मक सफलता थी, पर असलमें यह मेरा आन्दोलन नहीं दाव था और उसकी बैठ तब पूरी हुई, जब दो-अढाई घण्टे बाद ही खान बहादुर शेख ज़ियाउलहक साहब, चेयरमैन म्यूनिसिपलबोर्ड बौखलाये हुएसे मेरे मकानपर आये और बोले—"आप हमें इस कस्बेमें रहने देंगे या नहीं ?"

मैंने बनकर जवाब दिया—"कस्बेके राजा तो आप हैं । मैं तो एक गरीब आदमी हूँ । फिर आप ऐसी बात क्यों कहते हैं ?"

तन्नाकर बोले—"शेखुल हिन्दको आप बाजारमें खड़ा करेंगे, तो हमारी इज्जत तीन कौड़ीकी रह जायगी ।"

मैंने और भी बनपर कहा—"तो पिकेटिंगके लिए आप अपना नाम दे दीजिये, मैं हज़रतका नाम काट दूँगा ।"

अन्तमें निश्चय हुआ कि मैं तीन दिन तक पिकेटिंग आरम्भ न करूँ और वे बजाजोंको कांग्रेसकी बात स्वेच्छासे मान लेनेको तैयार करें । रातमें उन्होंने मुसलमान बजाजोंकी मीटिंग की । शेखुल हिन्दके बाजारमें आकर खड़े होनेकी कल्पनासे वे घबराये हुए तो थे ही खान बहादुरकी बात झट मान गये और दूसरे दिन १२ बजे तक ही हमारे स्वयंसेवकोंने उनके विदेशी कपड़ोंकी गठरियाँ बान्धकर, उनपर कांग्रेसकी मुहर लगा दी । तब हम हिन्दू बजाजोंकी ओर झुके और शामतक वे भी मान गये ।

अब हम फिर एक जलूस थे । कलके जलूसमें जोश था, आजके जलूसमें खुशी लहरा रही थी । कल दसियों नारे थे, आज एक ही नारा था—शेखुल हिन्द मौलाना हुसैन अहमद साहब मदनी जिन्दाबाद ! जलूस उनके घर पहुँचा, तो वे बाहर आ गये । स्वयंसेवकोंने उन्हें मालाएँ

पहनाईं और मैंने उनके पैर छुए, तो बोले-"मैंने क्या किया है ?" मैंने कहा—"तो फिर किसने किया है ?" और हम सब हँस पड़े ।

जितने बड़े वे थे और जितना छोटा मैं था, उतने किन्हीं दूसरे बड़े-छोटोंके बीच यह घटना हुई होती, तो सम्बन्ध निश्चय ही खट्टे हो जाते, पर वे तो इसके बाद और भी मीठे हो गये थे। सचाई यह है कि वे बाहरसे भीतर तक इतने मीठे थे, मीठे-मीठे थे कि उन्हें मीठा होनेके लिए किसी प्रयत्नकी आवश्यकता न थी ।

हाँ, वे मीठे-मुलायम थे, पर इतने सख्त कि पहाड़ शरमाएँ । तभी तो वे अपने राजनैतिक जीवनमें शहीदकी ज़िन्दगी जी सके, पर मैं उसकी बात नहीं कहता मैं तो उनकी रोज़ाना जिन्दगीकी बात कह रहा हूँ । एक दिन उनसे बातें कर रहा था। झुककर, धीरेसे कानमें कुछ कहनेकी ज़रूरत पड़ी, तो मेरी दोनों कोहनियाँ उनके तकियेपर टिक गईं । यही कोई दो-तीन मिनट मैं इस तरह रहा; पर हटा, तो कोहनियाँ सुन्न । यह उस तकियेकी करामात थी। मोटे चमड़ेसे मढ़ा वह तकिया कि पत्थर भी मात । उँगलीसे दबाओ या अंगूठेसे, कहीं साँस नहीं—पत्थरमें साँस कहाँ ?

बेवकूफी देखिये मेरी। कहा—"हज़रत, आप इसपर किस तरह सिर रखते हैं ? मैं कल एक मुलायम तकिया लाऊँगा आपके लिए ?"

ज़रा गम्भीर हो गये। तब बोले—"आप तकलीफ न करें। यहाँ यही ठीक है।"

मैं पीछे पड़ा रहा, तो धीरेसे बोले—"ज़िन्दगी ऐसी है कि जाने कब फिरंगी बुला ले। फिर वह अपने घर तो रखता नहीं, जेलमें रखता है। वहाँ तकिया मिले न मिले, सिर ऊँचा रखनेको ईंट तो मिल ही जाती है।" और धीरेसे उठकर अपना बिस्तर दिखाया। गद्दा चादरके ऊपर एक मोटा-खुरदरा काला कम्बल बिछा था। बोले—"इसपर सोता हूँ, क्योंकि यह जेलमें भी मिलता है।"

सुनकर मेरा खून जम गया। १६३२ की जेलयात्रामें २-३ दिन मैं भी कम्बलपर सोया था और सिरके नीचे ईंट रखी थी। कितनी मुश्किलसे कटे थे वे दिन, पर कितनी गहरी फकीरी है इस आदमीकी कि शरीरसे घरमें रह कर भी मनसे यह हमेशा जेलमें ही रहता है। वाहरे देशके फकीर!

उनका घर मेहमानोंकी धर्मशाला थी। उनके दस्तरखानपर मैंने एक साथ ३५ आदमियों तकको चाय पीते देखा है। ऐसा दिन तो उनकी ज़िन्दगीमें शायद आया ही नहीं, जब उनके घर कोई मेहमान न हो। शुरूमें मैं उनके घर चाय नहीं पीता था और माथेपर चन्दनकी बिन्दी लगाया करता था। उनके सम्बन्धी कारी साहब इसे छूतछातकी बात समझते थे और मुझे चिढ़ाया करते थे-"पण्डितजी, चाय पीजिये।" एक दिन उन्होंने मौलाना साहबके सामने ही टंकोर दिया-"अरे पण्डितजी, पीजिये भी?"

मौलानाने कड़ी आँखोंसे उनकी तरफ देखा, तो मैंने कहा-"हज़रत, ये मेरा चन्दन देखकर समझते हैं कि मैं इनकी चाय पीलूँगा, तो मेरा जनेऊ टूट जायगा, पर मेरा जनेऊ इतना मजबूत है कि मैं इन्हें चूरनकी गोली बनालूँ, तब भी न हिले। असल बात यह है कि मैं गोश्त नहीं खाता और यहाँ गोश्त पकता है।"

कुछ नहीं बोले, पर दूसरे दिन मैं गया, तो मेरी चाय गिलासमें आई। मालूम हुआ कि मेरे लिए २-३ बर्तन अलग मँगाये गये हैं और खास हिदायतें हुई हैं। कितना ध्यान रखते थे वे दूसरोंका, पर अपना ध्यान?

मौलाना महमूदुलहसन साहब भी उन दिनों मक्कामें थे और मौलाना मदनी भी। दोनों भारतमें एक जबर्दस्त क्रान्ति करनेकी धुनमें लगे हुए थे, पर तब तक मौलाना-मदनी अंगरेजोंकी आँखका काँटा न बने थे। मक्केका शासक शरीफ हुसैन कमज़ोर तो था ही। अंगरेजोंकी कठपुतली भी था। वह मौलाना महमूदुलहसन साहबको गिरफतार करके अंगरेजोंको सौंप देनेके लिए तैयार हो गया, पर इसकी खबर मौलानाके साथियोंको मिल

गई और उन्होंने उन्हें एक गुप्त स्थानमें छिपा दिया। यह उन दिनोंकी बात है, जब पहला विश्वयुद्ध अपनी पूरी गरमीपर था और अंगरेज़ घबराये हुए थे।

पता पानेके लिए मौलाना मदनी गिरफ्तार कर लिये गये और उन-पर तरह-तरहके अत्याचार किये गये, पर न उनकी ज़बान खुली, न उनके चेहरेकी सरलतापर कोई बल पड़ा। तब बड़े मौलानाके दो और साथी पकड़ लिये गये और उनका पता न बतानेपर गोली मार देनेका हुक्म दिया गया। वे दोनों गोली खानेको तैयार थे, पता बतानेको नहीं, पर बड़े मौलानाने इसे नहीं माना और वे बाहर आगये—गिरफ्तार हो गये। उनके गिरफ्तार होते ही मौलाना मदनी जेलसे छोड़ दिये गये; क्योंकि उनके खिलाफ फाइलमें तब कुछ था ही नहीं।

बड़े मौलाना और उनके दोनों साथियोंको जद्दा भेज दिया गया। ओह रे, मौलाना मदनी! उन्होंने अपने साथियोंसे कहा कि यदि बड़े मौलानाको हिन्दुस्तान भेजा जा रहा है, तो मैं जेलसे बाहर रहनेको तैयार हूँ; क्योंकि वहाँ उनकी सेवा करनेवाले बहुत हैं, लेकिन उन्हें कहीं और रखा जा रहा हो, तो फिर मैं भी उनके साथ ही रहूँगा, ताकि उनकी उचित सेवा होती रहे!

जब यह खबर मिली कि उन्हें हिन्दुस्तान नहीं ले जाया जा रहा है, तो उनकी गुरुभक्ति अपने गुरुके चरणोंमें पहुँचनेके लिए बेचैन हो उठी और उन्होंने अपने कुछ साथियोंसे, जिनकी पहुँच सरकार तक थी, यह प्रचार कराया कि मौलाना मदनीका मक्केमें रहना खतरनाक है—ये जरूर यहाँ कुछ न कुछ गड़बड़ करेंगे, इसलिए इन्हें भी मौलाना महमूदुल हसन साहबके पास ही भेज दिया जाय। यह सूझ-समझ सफल हुई और मौलाना मदनी भी जद्दा भेज दिये गये। बादमें सब लोगोंको माल्टा ले जाया गया; जहाँ वे बरसों नजरबन्द रहे और अपने गुरुकी सेवा करते रहे।

वे शिमला-सम्मेलनमें गान्धीजीके बुलावेपर क्रिप्ससे मिलने गये—सुलह-समझौतेकी बातें हो रही थीं वहाँ। स्टेशनपर किसी पत्रकारने बिना उन्हें बताये उनका फोटो खींच लिया और वह 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में छपा। मैंने उसे काटकर एक लिफाफेमें रख लिया और उनके पास पहुँचा—"हज़रत, आपका एक फोटो खिंचवाना है, जब आप कहें मैं फोटोग्राफरको बुलालूँ।"

वे टालते रहें, तैयार न हुए, तो मैंने लिफाफा खोलकर उनका फोटोप्रिंट उन्हें दिखाया—"मत खिंचवाइये आप; मेरे पास तो है आपका फोटो!" उसे देखकर मुस्कराये। तब गम्भीर होकर बोले—"इसे फाड़ दीजिये। आदमीकी सूरत नापायेदार है, उसे क्या रखना?"

बहुत लोगोंके तक़ाजेपर उन्होंने एक किताब लिखी, जिसमें उनके गुरू मौलाना महमूदुल हसन साहब स्वर्गीयके राजनैतिक कारनामोंका इतिहास है। इन कारनामोंमें मौलाना मदनीका पूरा हाथ रहा है, पर उस किताबमें आपने अपनी चर्चा न आने देनेकी पूरी कोशिश की। उस दिन स्टेशनपर मिले, तो मैंने इसकी शिकायत की। बोले—"मैं अपनी क्या बात कहता?" और ज़रा रुककर बोले—"मुझे तो आप जानते ही हैं।" मैंने उनकी तरफ देखा और देखता ही रह गया। किसी बालकने भी इतनी सरलतासे शायद ही कभी बातकी हो। उन जैसी आत्मनिस्पृहता बस मैंने प्रेमचन्दजीमें ही देखी थी; और किसीमें नहीं। इस आत्म-निस्पृहताने ही उन्हें नेतागिरीके रोग़से बचाये रखा। सचाई यह है कि वे राजनीतिज्ञ नहीं, सन्त थे—हाँ युगदर्शी सन्त। वे जब तब, जिस किसीका विश्वास कर लेते थे, यह आधी सचाई है। पूरी सचाई तो यह है कि धोखे और कपटकी भाषामें कुछ सोच ही न सकते थे; उनका मानस जीवन की तामसिक दिशासे परिचित ही न था।

साम्प्रदायिक दंगोंका युग था और उनकी पृष्ठभूमि थी मस्जिदोंके सामने बाजा। मुसलमान आग्रही थे कि मस्जिदोंके सामने बाजा न बजे, क्योंकि

इससे हमारे धर्मका अपमान होता है। एक दिन मैंने पूछा—"आपकी इस बारेमें क्या राय है?"

बोले—"मैं तो मौलवी हूँ, धर्मकी बातोंपर ही राय दे सकता हूँ।"

मैंने कहाँ—"हाँ, धर्मकी दृष्टिसे ही राय दीजिये।"

बोले—"पर यह धर्मकी बात कहाँ है, यह तो जहालत (मूर्खता) है।"

मुझे मालूम है कि जिन्नाने उन्हें खरीदनेकी कोशिश की थी और एक साहबने देवबन्दके कई चक्कर काटे थे, पर वे उधर मुँह तो क्या करते, उन्होंने कभी पैर भी नहीं किया। उनके बोल थे—"जिन्ना अंगरेज़ है और मैं पैदायशी तौरपर अंगरेज़का दुश्मन हूँ।"

उनसे कहा गया था—"आप एक बार उनसे मिलें तो सही, वे अपने ही आदमी हैं और मुसलमानोंकी बहबूदी चाहते हैं।" और उन्होंने जबाब दिया था—"मैं काले और गोरे दोनों तरहके अंगरेज़ोंसे नफरत करता हूँ। जिन्ना काला अंगरेज़ है और अंगरेज़ सिर्फ अपनी ही बहबूदी चाहता है, किसी दूसरेकी नहीं।"

जिन्ना साहब इससे बहुत झल्लाये थे और मुस्लिमलीगी हल्के आग-भभूला हो उठे थे। आसामसे लौटते समय एक स्टेशनपर मौलानाकी पगड़ी उतार ली गई थी, उन्हें गालियाँ दी गई थीं और और भी बहुत कुछ हुआ था। इस घटनाके तुरन्त बाद मैं उनसे मिलने गया और उन्हें देखकर मेरा दिल भर आया। यहाँ तक कि हाथ न मिलाकर मैं उन्हें लिपट गया।

कुछ नहीं बोले। मेरे लिए चाय मँगाई। तब कहा—"यह तो सेवा-का मेवा है।" मैं फिर भी गम्भीर रहा, तो कहा—"गुण्डा आदमी जब खरीद नहीं सकता, तो लूटना चाहता है।" फिर बोले—"पागल कुत्ते भौंकते हैं या काटते हैं।" मैंने देखा था, उस दिन भी वे सदाकी तरह शान्त और सन्तुलित थे। मानमें इठलाना और अपमानमें घबराना उनका स्वभाव न था।

जिन्नाके वास्तविक प्रतिद्वन्दी मौलाना मदनी ही थे और उनका नाम सुनते ही जिन्ना अपनी पराजय महसूस करते थे, क्योंकि यह मौलाना ही थे, जिनके कारण देशका मौलवीवर्ग पूराका पूरा जिन्नाविरोधी था और दिग्विजयी जिन्नाके सामने जिसने कभी भी अपना झण्डा न झुकाया था !

उनका व्यक्तित्व एक बब्बर शेरका व्यक्तित्व था और उनकी विशिष्टता अनजाने आदमीको भी प्रभावित और प्रकाशित करती थी, पर उनके व्यक्तित्वकी सबसे बड़ी चीज़ थी, उनकी आवाज़। एक अजीब मिठास था उसमें, जैसे कन्दरासे स्वर्गके किसी देवताकी आवाज़ आ रही हो। पण्डित जवाहरलाल नेहरूकी आवाज़ भी हमारे देशकी एक मास्टर पीस आवाज़ है। वह एक कवि और कलाकारकी आवाज़ है, पर मौलानाकी आवाज़में निर्झर और सागरका अद्भुत संगम था; स्त्रीत्वका माधुर्य और पौरुषका गाम्भीर्य एक साथ उसमें आ मिले थे।

वे महान थे, पर अपनी महानताका उन्हें आभास तक न था। वे अपने लिए कभी कुछ न चाहते थे। उनकी ज़िन्दगीके दो चाँद-सूरज थे—ईश्वर और भारत ! उनका जीवन इन्हें ही समर्पित था। वे समर्पित जीवनके उत्तम उदाहरण थे। १५ अगस्त १९४७ को उन्होंने कहा था—"मेरा काम पूरा हो गया। खुदा अब इज्ज़तके साथ जब चाहे अपने क़दमोंमें बुला ले।"

६-११-५७ को राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद दारुल उलूममें पधारे और मौलानाके प्रति अपना मान प्रकट किया। उनके साथ मौलानाको बैठे देखकर सोचा था—यह इतिहास-पुरुषके प्रति राष्ट्र-पुरुषकी भाव-वन्दना है और ५ दिसम्बर १९५८ को मौलाना इस संसारसे चले गये; जैसे भगवानने उनकी प्रार्थना सुन ली—"खुदा जब चाहे इज्ज़तके साथ अपने क़दमोंमें बुला ले।"

उनकी प्यारी यादमें मेरे लाखों-लाख सलाम !

ठाकुर लेखराजसिंह

उस दिन वहाँ कई मित्र बैठे थे और यों ही इधर उधरकी बातें हो रही थीं कि बातें एक ऐसे मित्र पर आ गईं, जो उस समय वहाँ नहीं थे। हर आदमीके बारेमें भली-बुरी बातें की जा सकती हैं और बातोंका व्याकरण ऐसा गोरख-धन्धा है कि कोई बात कब किधरसे उठ उड़े, इसे किसी नियम में नहीं बाँधा जा सकता। फिर जो सामने नहीं है, उसकी तो बात ही क्या ?

तो उन मित्रके सम्बन्धमें बात जहाँसे उठी, वह निन्दाका चबच्चा था और बातका तरीका है धार-सा कि जिधरको बही, बह चली। जो बाचाल थे, उन्होंने रोली छिड़की, तो जो मन्दचाल थे उन्होंने अक्षत चढ़ाए और यों पूजा आरम्भ हो गई।

मेरा संस्कार है कि जो बात हम किसीके सामने नहीं कह सकते, वह उसके पीछे भी न कहें, पर यहाँ तो दूल्हेके बिना ही बातोंकी बारात सज रही थी। स्वाभाविक है कि मेरा साँस सरल न था, मुझे बेचैनी हो रही थी, पर न बहती धारको रोकना सम्भव है, न बढ़ती बातको। हाँ, इन्हें नया मोड़ दिया जा सकता है, पर इसके लिए बहाव और बढ़ावका रुख देखना जरूरी है।

मतलब यह कि मैं बातको नया मोड़ देनेकी बात सोच ही रहा था कि भाई साहब बोले—"अरे उस नालायककी क्या बात करते हो, वह तो पूरा गप्पी है!"

मैंने अपनेसे कहा—बस यही जगह है, जहाँसे बातको निन्दाके नमकीनसे महिमाके मिठासकी ओर नहीं, तो प्रगल्भ परिहासकी ओर अवश्य मोड़ा जा सकता है और दिया मैंने पहला हल्का धक्का—भाई

साहब, आज तक मैं भी उसे भोला-भाला ही समझता था, पर अब पहली बार आपकी बातसे मालूम हुआ कि वह एक श्रेष्ठ कलाकार है।

भाई साहब चौंके—"क्या ? मैंने उसे कलाकार बताया ? कब ? अरे मेरे भाई, उस बसखुदेके खानदानमें कोई कलाकार पिछली सात पीढ़ियोंमें नहीं जन्मा और अनेक ज्योतिषाचार्योंकी भविष्य-वाणी है कि अगली चौदह पीढ़ियोंमें भी ऐसी कोई सम्भावना नहीं, पर हाँ, यह तो बताओ कि मैंने उसे कलाकार कब कहा ?"

अभी-अभी आपने उसे पूरा गप्पी कहा या नहीं ?

"हाँ, गप्पी कहा था और कहा था क्या झूठमूठ, वह है ही गप्पी, पर गप्पी होना और कलाकार होना, क्या एक ही बात है ?"

जी हाँ, एक ही बात है और सौ टका एक ही बात है; क्योंकि गप्प मारना कोई मामूली बात नहीं, एक बहुत ऊँची कला है।

"गप्प मारना एक ऊँची कला है, यह अच्छी गप्प मारी तुमने।" भाई साहब बोले, तो मैंने कहा—भाई साहब, ऊँची ही नहीं, बहुत गहरी भी। बात यह है कि शिक्षा या अभ्याससे कोई भी इस कलामें पारंगत नहीं हो सकता—जो माके पेटमें पढ़कर पैदा हुआ, वही इसका पण्डित—इस तरह पूरा गप्पी होनेके लिए अधिक नहीं, तो दो जन्मोंकी साधना तो अनिवार्य ही है।

मैंने देखा कि भाई साहब और दूसरे साथी गौरसे मुझे देख रहे हैं। बस मैं समझ गया कि अब इन लोगोंकी दिलचस्पी उस अनुपस्थित मित्रके चरित्रका पोस्टमार्टम करनेमें नहीं, गप्पोंकी कलाके विश्लेषण-विवेचनमें है।

अपने गोरखधन्धेके घेरेको ज़रा फैलाते हुए मैंने कहा—बन्धुओं, इस कलाकी समता दूसरी महत्त्वपूर्ण कलाओंमें केवल काव्य-कलाके साथ है।

हड़बड़ाएसे भाई साहब बोले—"यह कैसे ?"

मैंने कहा—यह इस तरह कि काव्य-कलाकी भाँति इस कलाकी आत्मा भी हृदयकी अनुभूति है, मस्तिष्ककी धमाचौकड़ी नहीं, पर आप कहीं उलझ न जायें, इसलिए मैं यहीं स्पष्ट कर दूँ कि दोनों कलाओंकी अनुभूतियोंमें धरती आकाशका अन्तर है—वहाँका पूर्व ही यहाँका पश्चिम है। काव्यकी अनुभूतिका स्वरूप यह है कि जैसा अनुभव करे, वैसा कहे और गप्प कलाका स्वरूप यह है कि जैसा कहे वैसा अनुभव करे।

यों समझिए कि असली कवि वह, जो अनुभूतिको शब्दोंमें एक-रस कर दे और असली गप्पी वह, जो शब्दोंको अनुभूतिके रसमें पाग दे। यह कोई साधारण बात नहीं है। हाँ, यह इतनी असाधारण बात है कि संसारके बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ इसके सामने सिर झुकाते हैं।

हिटलर महान्‌को अपने जीवनके अन्तमें जो असफलता मिली, उसके लाख कारण हों, पर जीवनके आरम्भ और मध्यमें उसे जो सफलता मिली, उसका एकमात्र कारण गप्प कलाके अनुभूति तत्त्वका ज्ञान ही था। यकीन कीजिए, मैं गप्प नहीं मार रहा हूँ, अपने युगमें महान् हिटलर ही विश्वके महापुरुषोंमें इस कलाका आचार्य था। भारतीय काव्य कलाके इतिहासमें मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथका जो स्थान है, गप्प कलाके इतिहासमें वही और उससे भी ऊँचा स्थान हिटलर महान्‌का है। बात यह है कि वह इस कलाको नया ज्ञान ही नहीं, नया स्वरूप भी दे गया।

आपने उसकी विजय-पराजयका इतिहास तो पढ़ा है, पर शायद गप्प कलामें उसके विशिष्ट दानका ज्ञान नहीं लिया। उसने अपने प्रचार मन्त्री गोयबेल्सको प्रचार शास्त्रके जो ३ सूत्र दिये थे, इस कलाके लिए वे उसका विशिष्ट दान हैं।

पहला सूत्र का—"जनता झूठी है, वह रोज छोटे-छोटे झूठ बोलती है। तुम इतना बड़ा झूठ बोलो कि वह उसे सच मालूम दे।"

दूसरा सूत्र यह था—"एक झूठ युक्तियुक्त रूपसे बार-बार प्रयुक्त होने पर कुछ दिनोंमें जनताके लिए सच हो जाता है।"

हिटलरके इस सचका महासच यह है कि झूठको युक्तियुक्त रूपसे प्रयुक्त करने वाला मनुष्य प्रयोग करनेसे पहले ही उसे स्वयं सत्य मान ले। मैंने कहा नहीं कि गप्प कलाका स्वरूप यह है कि जैसा कहे, वैसा अनुभव करे।

यों समझिए इस गहरी बातको कि गप्पी वह नहीं, जो गप्पको इस तरह कहे कि दूसरे उसे सच समझें। उसे तो गप्पियोंकी गोष्ठीमें लप्पी कहा जाता है और लप्पी ऐसा कि शराबियोंमें जैसे भंगड़ी; उनकी अपनी भाषा में—वे गिलास होठोंसे लगाते हैं, तो लालपरी नाचती है और भंगड़ी है पत्ता-पिऊ या घस-घोटा। अपनी झोंकमें झूम कर वे कहते हैं—अबे, भंगड़ीसे भंगी भला, जो पत्ते करदे साफ !

गरज़ यह कि वे उसे नगण्य मानते हैं और कोई भंगड़ी ऐंठे खां हुआ और भंगको शिवजीका प्रसाद कहकर शराबको नालीका पानी कह बैठा, तो वे कहते हैं—अबे जा, अपनी पत्तियाँ किसी बकरीको चरा, यह घुड़सवारोंकी चीज़ है, राजाओंके मुँह न लग !

तो हाँ, गप्पी वह नहीं, जो गप्पको इस तरह कहे कि दूसरे उसे सच समझें। गप्पी वह है, जो अपनी गप्पको सच कहे ही नहीं, स्वयं भी सच समझे और कसम खाकर सच समझे।

असल बात यह है कि गप्प मारना किसी साधारण आदमीके बसका काम ही नहीं, यह तो योगियोंका काम है। मैं जानता हूँ, अब आप चौंक कर पूछेंगे—जी, योगियोंका ? और मैं कहूँगा, हाँजी, योगियोंका। अरे भाई रोगी और भोगी, जो अपने पर पूरा कन्ट्रोल नहीं कर सकते, वे बिचारे क्या बैंगनका भुरता खाकर गप्प मारेंगे ?

योगीश्वर कृष्णने कहा था—'योगः कर्मसु कौशलम्'—कुशलताके साथ कर्म करना ही योग है। गप्पकी कलामें पूरी कुशलता अपेक्षित है। एक

बात कही कि सुनने वाले खिली फूँट होगये, पर क्या मजाल, जो गप्प शास्त्रीके होठ तो होठ, पेटमें भी मुसकराहट आसके।

यही नहीं, गप्पीने एक गप्प कही, पर सुनने वालों पर वह न जमी। अब सब चिल्ला रहे हैं—झूठ, झूठ, झूठ, पर गप्पी क्या जो झेंप जाये या मान ही ले। नहीं, उसका काम है तह पर तह दिये जाना और खुद करवट न लेना। वह माना या झेंपा कि गप्पियोंके समाजमें गाटा हुआ। उनकी अपनी भाषामें अब वह न गप्पी, न लप्पी, सिर्फ सप्पी और सप्पी की उनके समाजमें कोई पोजीशन नहीं!

लो, अपनी ही जिन्दगीका खट्टा अनुभव सुनाऊँ आपको और अनुभव क्या है भाई साहब, खुले आम पिटाईकी कहानी है।

"खुले आम पिटाईकी कहानी? कैसी पिटाई?"

अजी भाई साहब, पिटाई लाठी-डण्डेकी ही नहीं होती, बातकी भी होती है। बात यह हुई कि मैंने मसूरीमें एक छोटा-सा मकान किराये पर लिया और मैं उसमें रहने लगा। कुछ दिन बाद मेरे निष्काम बन्धु श्री शान्ति प्रसाद जैन अपनी पत्नी मान्या रमारानी जीके साथ मसूरी आ पहुँचे और अपनी साहू-जैन-कालोनीमें ठहरे।

मैं उनसे मिलने गया, तो ममतामयी रमारानी जीने पूछा—"सामान कहाँ है?" मैंने सहज भावसे कहा—"मैं तो १५ दिन हुए यहाँ आगया था और सेवेस्टोपोल हाउसमें ठहरा हूँ।"

आश्चर्यसे उन्होंने कहा—"क्यों, यहाँ जब इतनी जगह थी, तो वहाँ क्यों ठहरे?"

बात यह थी कि साहू जैन कालोनी स्वर्गसे दो हाथ ही नीची है और मुझे तीन बार प्लूरिसी होचुकी है, तो वहाँ ठहरने का अर्थ होता, आधे आकाशमें टंगे रहना—न घूमना, न मिलना-जुलना। मनमें आया कि यह बात कहदूँ, पर मुझे लगा कि यह कड़वी बात होगी और मीठा बोल मेरा

पैत्रिक संस्कार है। मनने इधर-उधर राह खोली, तो याद आया कि सेबेस्टोपोल हाऊसकी बड़ी कोठीमें मेरे नगरके लाला प्रद्युम्न कुमार जैन ठहरे हुए हैं और वे साहू-जैन-परिवारसे परिचित हैं।

बस गप्प कलाका सहारा लेना ही मुझे इस समयका एक मात्र मार्ग सूझा और मैंने कहा—मेरी अस्वस्थताका लाला प्रद्युम्न कुमार जीको पता चला, तो आग्रह पूर्वक वे मुझे अपने साथ ले आये। साथ ही वह सब भी मैंने जोड़ दिया, जो आग्रह पूर्वक साथ लानेकी पूर्णताके लिए आवश्यक होता है। मुझे सन्तोष हुआ कि मेरी गप्प पूरीकी पूरी जम गई और मैं उन्हें सन्तुष्ट कर सका।

अब आगेका सुनो हवाल ! लाला जी की पत्नी बीमार हो गई और एक दिन साहू जी आपहुँचे उनकी खबर लेने सेबेस्टोपोल हाऊस। बातों बातोंमें यह बात भी उनके सामने आगई कि मैं उनसे अलग एक हिस्सेमें स्वतंत्र रूपसे रह रहा हूँ। दूसरे दिन मैं कालोनी पहुँचा, तो देखता हूँ कि मेरी पूरीकी पूरी गप्प उधड़ी पड़ी है और वह क्या उधड़ी, मैं ही जैसे उधड़ा पड़ा हूँ। साहूजीकी मुसकान और रामारानीजीकी भ्रुकुटियाँ देखीं।

मैंने अपनेसे कहा—बड़ा चला था गप्पी बनने; अरे भाई, जिसका काम उसीको साजे। अब गप्पी रहे, न लप्पी, रह गये कोरे सप्पी ! बोलो, अब क्या जवाब दोगे ?

जवाब कुछ था नहीं सिवाय इसके कि कान सहिष्णुताका नया रेकर्ड कायम करें। सुनते-सुनते याद आया कि एक बार पहले भी घड़ी थी गप्प और वह भी यों ही उखड़ गई थी, तो कहा—सचमुच गप्पके लिए भी बहुत अक्ल चाहिए भाभी जी, एक बार पहले भी उद्योग किया था और उसमें भी ऐसे ही पटाक पड़े थे !

सुनते ही साहू जी बोले—"अच्छा तो यह कहकर आप चाहते हैं कि आपको परमानैंट सत्यवादी होनेका सर्टीफिकेट दे दिया जाये !"

ओहो, साहब, कुछ न पूछिए कि जो लोग वहाँ थे, वह यों हँसे कि फटफट पड़े और मैं यों तिलमिलाया कि हंसीकी उस सफेद आगमें नहा-नहा गया !

तो देखा आपने कि जब गप्प उखड़ती है, तो आदमीको आपा थामना कठिन हो जाता है। खैर, कहनेका मतलब यह कि गप्प हाँकना किसी अड़ियल टट्टूको हाँकनेसे भी अधिक मुश्किल है।

अमरीकाके बरलिंगटन नगरमें उस बार लड़ाईके दिनों देश भरके गप्पी जमा हुए और लगे अपनी-अपनी हाँकने। फैसला हुआ कि जिसकी गप्प नम्बर एक रहे, वही अगले वर्षका सभापति और जिसकी नम्बर दो आये, वह मंत्री।

श्री रिचार्डने कहा—दोस्तो, मैं एक मछेरा हूँ। हमेशा मछलियाँ पकड़ता हूँ। मैंने जाने कितनी तरहकी मछलियाँ पकड़ी हैं, पर पिछले महीनेकी १६ या २६ तारीखको, इस समय मुझे ठीक याद नहीं, पर मैं अपनी डायरी देखकर आपको ठीक तारीख ही नहीं, घन्टा और मिनट तक बता सकता हूँ, मेरे काँटेमें एक ऐसी मछली फँसी कि क्या बताऊँ आपको कुश्तीके दाव पेंचोंसे वह रत्ती-रत्ती वाकिफ थी और ४५ मिनट मुझसे कुश्ती लड़ती रही। कई बार तो मुझे लगा कि यह मेरे वशमें नहीं आयेगी और मैं डरा कि कहीं यह मुझे खींचकर अपने घर न ले जाये, पर मैं भी पुराना अखाड़िया हूँ। अन्तमें मैं सफल हो गया और मैंने उसे खींचकर अपनी नावमें डाल लिया। मैं पसीनेसे तर हो गया था, पर मुझे यह देखकर जरा तसल्ली हुई कि वह भी पसीनेसे तर हो रही थी।

श्री गिब्सन बोले—लड़ाईमें व्यापार करके मैंने लाखों रुपया कमाया और एक सन्तसे प्रभावित होकर निश्चय किया कि उस धनको पड़ोसियों की सेवामें लगा दूँ। सन्तने कहा था पड़ोसीकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है।

मैंने अपना निजी पड़ोस बसानेके लिए पत्रोंमें विज्ञापन दिया कि मैं अपने नये ढंगके ७-७ कमरों वाले मकान सिर्फ १२ डालर प्रतिमासके

हिसाबसे किराये पर देना चाहता हूँ। किरायेदारोंको मोटर, बिजली और कोयला मुफ्त दिया जायेगा।

मुझे विश्वास था कि मेरे दरवाजे पर उम्मीदवारों की भीड़ लग जायेगी और अच्छे से अच्छे पड़ोसी छाँट सकूँगा, पर साथियो, आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि एक भी आदमी इस सम्बन्धमें मेरे पास नहीं आया। बात यह हुई कि लड़ाईके कारण ये मोटर, बिजली और कोयला अमरीकामें दुर्लभ हैं, इसलिए किसीने मेरे विज्ञापन पर विश्वास ही नहीं किया।

रिचार्ड और गिब्सन सभाके अध्यक्ष और मन्त्री चुने गये, पर पाकिस्तानकी गप्पी सभाके निर्वाचित सभापति श्री अब्दुर्रहीम इन दोनोंसे किसी बातमें कम नहीं हैं। उन्होंने कहा था—दोस्तो, मैं पिछली गरमियोंके करीब-करीब अन्तमें पहाड़ी खरगोशोंका शिकार करने गया, तो मुझे वहाँ कोई खरगोश ही नहीं मिला। बहुत खोजके बाद मुझे चार खरगोश दिखाई दिये, तो मैंने उनके पीछे अपने शिकारी कुत्ते दौड़ा दिये, पर तभी बरफ गिरने लगी और मेरे कुत्ते और वे खरगोश उसमें दब गये। मैं मायूस होकर लौट आया। आप ही बताइए कि और मैं करता ही क्या। इस साल गरमियोंके शुरूमें जब बरफ गलने लगी, तो मैं फिर शिकारको निकला और यह देखकर मैं एकदम भौंचक रह गया कि वे चारों खरगोश अब भी उसी तरह दौड़े जा रहे हैं और मेरे कुत्ते बराबर उनका पीछा कर रहे हैं।

रिचार्ड, गिब्सन और अब्दुर्रहीम की गप्पें आपने पढ़ीं, पर सचाई यह है कि गप्पें पढ़नेकी नहीं, सुननेकी चीजें हैं—वे पत्रों-पुस्तकोंका नहीं, गोष्ठियोंका वैभव हैं। बात यह है कि गप्प एक वाक्कला है—वाणी-विलास है। इसमें भाव-पक्षसे कलापक्षका अधिक महत्त्व है। 'क्या कहा' से 'कैसे कहा' यह बड़ी कसौटी है। एक श्रेष्ठ कलाकार अपनी मामूली गप्पको भी

इस लहजे और लोचसे कह सकता है कि अनेक श्रेष्ठ गप्पोंको उसकी गप्प पछाड़ दे, हाँ, पछाड़ दे और पिछोड़ दे!

इस कलामें भी उँगलियोंकी मुद्राओंका उतना ही महत्त्व है जितना कथाकाली नृत्यमें, आँखोंके संकोच-प्रस्फुटनका उतना ही, जितना भरत-नाट्यं नृत्यमें और भाव-भंगियोंका उतना ही, जितना भाव-नाट्यमें। तल्लीनता दूसरी कलाओंकी तरह इस कलाका भी श्रेष्ठ उपकरण है।

"गप्प कलाके सम्बन्धमें इतनी बातें आपको कहाँसे मालूम हुईं?" भाई साहबने सरल स्वभावसे पूछा, तो मेरे कलेजेमें एक सुई सी चुभ गई और मेरी स्मृतियों पर तैर गईं वे बड़ी-बड़ी आँखें, वे राजपूती मूँछें, वे मुसकराते होठ और वह सधी-सुती देह। वे ठाकुर लेखराज सिंह थे। अमरीका और पाकिस्तान क्या, वैसा गप्पी शायद संसारमें दूसरा पैदा नहीं हुआ! गप्पी क्या वे तो गप्पियोंके शाहंशाह थे!

हाँ, थे ही। बात यह हुई कि संसारमें नास्तिकता बढ़नेसे देवलोकमें मायूसी होने लगी, तो धर्मराजने उन्हें बुला लिया। अब वे रोज रातमें देवी-देवताओंको लोटपोट किया करते हैं। उस दिन खुद ही उन्होंने यह बात बताई थी!

उनसे मुलाकात भी अजीब ढंगसे हुई थी। बात यह कि उनकी हर बात ही अजीब थी। १९३२ का स्वतन्त्रता-संग्राम चल रहा था और मैं सहारनपुर जेलमें कांग्रेसी कैदियोंका 'डिक्टेटर' था—जेल अधिकारियोंसे बात-चीत करने वाला जीव; जिसे अधिकारी लड़ाका और कैदी डरपोक मानते थे। दूसरे शब्दोंमें, जिससे अधिकारियोंको शिकायत थी कि तुम कैदियोंको बे बात भड़काते हो और कैदियोंको शिकायत थी कि तुम हमें अधिकारियोंसे भिड़ने नहीं देते!

उस दिन अधिकारियोंसे झाँगझड़ापा करके मैं अपनी बैरक नं ७ में आया, तो देखा कि मेरे बिस्तर पर एक अपरिचित सज्जन पड़े सो रहे हैं। ३-४ घण्टे बाद गुर्राटोंका घमासान मचाकर वे उठे, तो जाना कि वे हैं

ठाकुर लेखराज सिंह। रुड़कीमें दफा १४४ तोड़कर ६ मासके लिये पधारे हैं।

यह देखकर मेरा दिमाग भन्ना गया कि उनके मुँहसे शराबकी दुर्गन्ध आ रही है और आँखें लाल हैं। क्षोभको संयत कर मैंने पूछा—आप शराब पीकर दफा ४४ तोड़ने गये थे?

बोले—"आप मुझे बेवकूफ समझते हैं? चाय पीकर दफा ४४ तोड़ी, गिरफ्तार होकर कचहरी गये, ६ महीनेकी जेलका हुक्म सुना, तब दोस्तोंसे कहा, लाओ यार, आज तो पिला दो छका कर, फिर क्या पता जेलमें मरें या जियें! बस एक बोतल पेटमें डाली और लारीमें बैठकर यहाँ आ गये।"

मनने कहा—बड़ा मस्तमौला आदमी है।

आदर्शने कहा—गांधी जी यह सब सुनें तो!

मैंने उनसे कहा—आप अच्छे कांग्रेसी हैं!!

बोले—"अच्छे बुरेका तो पता नहीं, पर कांग्रेसी हूँ सिर्फ अँग्रेज़ोंके लिए, बाकी दुनियाके लिए लेखराज हूँ।"

कितना यथार्थ उत्तर था यह! ठीक तो है, मैं अपने देशकी स्वतन्त्रताके लिए सब कुछ बलिदान करनेको तैयार हूँ। फिर तुम यह क्यों पूछते हो कि मैं सनातनधर्मी हूँ या आर्यसमाजी हूँ, हिन्दू हूँ या मुसलमान हूँ, गान्धी वादी हूँ या वाम मार्गी हूँ।

बस उसी क्षण मैं और वे दोस्त हो गये!

लेखराजसिंह अपनी जगह खूब आदमी थे। मनहूसियतसे उनकी दुश्मनी थी। न खुद सुस्त होते थे, न दूसरोंको सुस्त होने देते थे। श्रीअयोध्याप्रसाद गोयलीयके दिमागमें हर मौकेका शेर हाज़िर है, तो उनके दिमागमें हर मौकेकी कहानी तैयार थी।

कहानीको वे चटपटे चूरनकी जगह भी इस्तेमाल करते थे और पैने तीरकी तरह भी। एक दिन भाई सुतरामसिंहने उन्हें कुछ कह दिया

और सुतरामसिंह थे जाट। बस फिर क्या था, रातमें ७ बजेसे दो बजेतक उन्होंने जो कहानियाँ सुनाईं, उनमें जाट जातिकी सात पीढ़ियाँ धुल-धुल गईं। एक रात उन्होंने वैश्य जातिका श्राद्ध किया, तो एक रात सैयदोंका इतिहास माँजनेमें लगाई; ज्यादा नहीं तो पूरे सप्ताह वे रात-दिन अखण्ड कहानी यज्ञ अवश्य कर सकते थे। हममें कुछ लोगोंका खयाल था कि उन्हें ५,००० कहानियाँ याद हैं, पर सच यह है कि कहानियाँ उन्हें याद तो थी हीं, हाथों हाथ वे घड़ते भी जाते थे।

फिर वे सिर्फ कहानी-कहिया ही नहीं थे; उनके व्यक्तित्वमें कहानी, कैरीकेचर और गप्पका सर्वोत्तम सम्मिश्रण था। कहानी और कैरीकेचरमें वे गरम रहते, तो गप्पमें ठण्डे—गरम यानी खुद भी हँसते और नरम यानी गुम। उस समय उनकी पूरी शक्ति विश्वास दिलानेके लिए तह पर तह जमानेमें लगी रहती। उनकी तह गजबकी होती थी, असलमें तह ही उनकी कलाकी कुंजी थी और तहमें ही उनकी कलाका क्लाईमेक्स था।

उस दिन मैं विष्णु-पुराण पढ़ रहा था। एक आर्यसमाजी मित्र बोले—"आप भी किस पोपलीलामें फँस रहे हैं पण्डित जी!"

समयकी बात, लेखराजसिंह भी वहाँ बैठे थे। तमककर बोले—"क्यों पुराणोंमें क्या पोपलीला है?"

"एक क्या, पुराणोंमें हजार पोपलीलाएँ है!"

"हजारों नहीं, लाखों-करोड़ों होंगी, पर तू कोई एक तो बता मुझे!" लेखराजसिंह बोले, तो उस आर्यसमाजी मित्रने कहा—"शिवजीने अपने बेटे गणेशका सिर काटकर उसके गलेपर हाथीका सिर जमा दिया; क्या यह पोपलीला नहीं है?"

अब लेखराजसिंहने तह पर तह जमाना शुरू किया। बोले—"भाई, तुमने यह बात मेरे सामने कही, सो कही, कहीं और मत कहना; वरना लोग तुम्हें और तुम्हारी आर्य समाजको होलुओंका गिरोह कहने लगेंगे।

भले-मानस, पचास साल पहले अन्धेरा जमाना था और तब ऐसी बातें कही जा सकती थीं, पर साइंसकी इस रोशनीमें, जब डाक्टरोंके चमत्कार दुनियाके सामने हैं, आदमीके गलेपर हाथीका सिर रख देनेको कौन पोपलीला मानेगा ?"

आर्यसमाजी मित्र कुछ कहें और उनकी पहली तहको कहीं कमजोर करें, इससे पहले ही उन्होंने दूसरी तहके रद्दे देने शुरू किये। बोले—"क्यों जी, गणेशके गलेपर हाथीका सिर चढ़ाना पोपलीला है, तो लक्सर स्टेशनका बाबू क्या है ?"

और मुँह चिढ़ाकर बोले—"कह दो उसे भी पोपलीला, पर भैया, उसे पोपलीला कहनेको तो कलेजा चाहिए—५॥ हाथका ठुमक-ठुमक फिरता है प्लेटफार्म पर !"

"लक्सर स्टेशनका कौन-सा बाबू ?" सबकी जिज्ञासा एक साथ बोल उठी, तो बोले—"अरे, वही भैंस बाबू, जो ज़रा लंगड़ाकर चलता है। पता नहीं बेचारेका क्या नाम था, पर आपरेशनके बादसे तो यही नाम पड़ गया है उसका !" और एक लम्बा साँस लेकर दुःखभरे स्वरमें बोले—"मर ही गया था बेचारा, पर भगवान् उस डाक्टरका भला करे कि उसने जान बचा दी। और सच तो यह है कि भगवान् जिसे बचाता है, उसे कौन मार सकता है।" फिर उन्होंने बहुत श्रद्धासे आँख मींचकर भगवान् को हाथ जोड़े। अब पूरा वातावरण परिहाससे निकलकर इतिहासकी छायामें आ गया था। उसे थपथपी देते हुए मुझसे बोले—"पण्डितजी, आप अक्सरह रद्वार जाते हैं। आपने तो उसे लक्सरमें अक्सर देखा होगा ?"

आर्यसमाजी मित्र रल-से गये, सँभालते-से बोले—"उस बाबूका और गणेशजीका क्या सम्बन्ध ?"

लेखराजसिंह बोले—"सम्बन्ध यही है कि शिवजीने जैसा आपरेशन गणेशके गलेका किया था, उस मद्रासी डाक्टरने वैसा ही इस बाबूका कर

दिया। गणेशकी बात तो पुराणोंमें लिखी है, पर यह बाबू तो जीता-जागता जादू है, जो सिरपर चढ़ कर नहीं, आँखोंमें उँगली डालकर दिखाई देता है। स्वामी दयानन्द भी धरती पर उतर आएँ, तो इसे पोपलीला नहीं कह सकते और यह पोपलीला नहीं, तो वही पोपलीला क्यों है ?"

पोपलीलासे अधिक सब लोगोंकी दिलचस्पी अब आपरेशनमें थी, इस लिये लेखराजसिंह बोले—"बात यह हुई कि पंजाब मेल लक्सर स्टेशनपर खड़ी थी और उसका इंजन उसमें वे डब्बे जोड़ रहा था, जिन्हें देहरादूनसे मुरादाबाद जानेवाली गाड़ी पंजाब जानेको छोड़ गई थी। यह बाबू लाइनके पास खड़ा कभी हरी और कभी लाल झण्डी दिखाकर शन्टिंग करा रहा था। रोज़ ही करता था बेचारा यह काम, पर आया जो बुरा वक्त, तो तारमें उलझकर लाइनपर गिर पड़ा और इंजन उसके ऊपरसे उतर गया। ऊपरवाला हिस्सा, तो ज्योंका त्यों, पर पैरोंवाला हिस्सा लोथड़े-लोथड़े हो गया। ऐसा दृश्य था कि देखते ही जी गलेको आये!

हमारे देशमें यह बहुत बुरी आदत है लोगोंको कि ऐसे समय मदद तो कोई करता नहीं, पर भीड़ सब बढ़ाते हैं। डब्बोंमेंसे उतर-उतर लोग इकट्ठे हो गए, पर उसी समय एक मद्रासी डाक्टर अपना बैग लिये हुए आया और भीड़को चीरता हुआ उस बाबूके पास पहुँच गया। इतने-में पुलिस भी आ गई और उसने लोगोंको दूर-दूर हटा दिया।

ओहो, डाक्टर हो तो ऐसा हो। ये हमारी तरफके डाक्टर क्या डाक्टर हैं, ये तो कुनैन बाबू हैं, बस कम्बख्त कहींके! देखते-देखते उसने बाबूका नीचे वाला हिस्सा काट फेंका! ज़रा-सा उसका नश्तर, पर हड्डीको ऐसा काटे कि कटाक कटाक। अब उसने खड़े होकर चारों तरफ देखा। पुलके बिल्कुल पास ही खड़ा था वह, और वहाँसे सामने ही स्टेशन मास्टरका क्वार्टर है।

आपने तो देखी ही है वह जगह। बस सामने ही स्टेशन मास्टरकी भैंस बँधी थी। अभी ५-७ दिन हुए पहली बार ब्याई थी वह—गुट्टी-गुट्टी।

डाक्टर दौड़ा-दौड़ा गया और उसे खोल लाया, आँखों ही आँखोंमें उसने जाने क्या नापा तोला और बड़ा नश्तर निकालकर भैंसको बीचसे चीर दिया। अब नश्तर तो उसने रख दिया और एक खास तरहका सुई-डोरा निकाल कर भैंसका निचला हिस्सा बाबूके ऊपर वाले हिस्सेमें सी दिया। १५-२० दिनमें बाबू अच्छा हो गया और अपना काम करने लगा। अब २०० रुपये उसे वेतन मिलता है और ७ सेर दूध रोज़ देता है।"

हम सबकी हालत यह थी कि निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि हँसें या क्या करें कि उन्होंने एक दचका और दिया—"पण्डित ज़ी, इसका नाम है आपरेशन कि भैंस भी कट गई और बाबू भी कट गया, पर उसका निचला हिस्सा काम कर रहा है और उसका ऊपर वाला; जैसे यह इसी तरह माके पेटसे जन्मे हों।"

हम लोग अब अपनी-अपनी जगह आगये थे और पूरे ज़ोरसे हँस रहे थे, पर लेखराजसिंहके होठ ज्योंके त्यों थे और एकके बाद एक तह दिए जा रहे थे। हममें से किसीने कहा—यार, तुम तो गज़बके गप्पी हो, तो बोले—"कोई बात नहीं, हँस लीजिए, पर जेलसे छूटते ही मैं आप सबको अपने खर्चसे लक्सर ले चलूँगा और तब भैंस बाबूके घरमें बैठकर ही आपसे पूछूँगा कि कहिए जनाब, अब आप क्या कहते हैं—मैं गप्पी हूँ या आप आँखोंके अन्धे, नाम नयन सुख हो!

हम उन्हें कुछ कहें, इससे पहले ही वे मोर्चा बदलते हुए-से बोले—"अच्छा छोड़िये भैंस बाबूकी बात, लक्सर तो फिर भी १०-२० मील है, पर सहारनपुरका स्टेशन तो ऐसा है, जिस पर आप सभी महीनेमें १-२ बार अपना जलूस निकालते हैं; वहाँकी बातको आप क्या कहेंगे?

"सहारनपुर स्टेशनकी कौन-सी बात?" हममें से किसीने कहा, तो तमक कर बोले—"लो साहब, अब इन महाशयोंको सहारनपुर स्टेशनकी बात बताओ। अरे भाई, कौन-सी बात क्या, वही कनपटिया बाबूकी बात!"

"कनपटिया बाबू ? कौन कनपटिया बाबू ?" सब चौंके, एक बोला, तो बच्चोंकी तरह खिजिया कर बोले—ई, ई, ई, कौन कनपटिया बाबू ! झेंपो मत; मैं जानता हूँ, उसे तुम सब जानते हो; तो बताओ, जब कनपटिया बाबूकी बातसे तुम इंकार नहीं कर सकते, तो फिर भैंस बाबूकी बातको कैसे झूठा कह सकते हो ? और फिर यह कौन नहीं जानता कि दिमाग तो पेटसे भी ज्यादा नाजुक होता है !"

"कनपटिया, कनपटिया, कनपटिया, अरे भाई कौन-से कनपटियाकी बात गारहे हो ?" किसीने कहा, तो बोले—"कौन-सा कनपटिया, जैसे वहाँ कोई २-४ कनपटिये हों। अरे भाई, वही कनपटिया बाबू, जिसे कुछ लोग लालटैन बाबू भी कहते हैं।" .

मामलेको राह पर लाते हुए मैंने कहा—भाई, छोड़ो भी इस कौनकी इनक्वायरीको और उसकी बात बताओ !"

"बात तो मशहूर है पण्डित जी, उस दिन बोम्बे एक्सप्रेस चली, तो चलती गाड़ीमें एक पठान चढ़ने लगा। गाड़ी तेज़ हो गई थी, गार्डने उसे रोक दिया। वह रुक गया, पर जब गार्डका डब्बा आया और वह उसमें चढ़ने लगा, तो पठानने उसे पकड़ लिया और बोला—गार्ड बाबू, तुमने हमारा जान बचाया, हम तुम्हारा जान बचाएगा।

गार्डने बहुत कहा, हाथ पैर झटके, पर पठानने एक न सुनी और कहे गया—'ओ गार्ड बाबू, तुम मर जाएगा, तुम्हारा बाल बच्चा रोएगा।' अब गार्डको आगया गुस्सा और उसने खींचकर झंडीकी डण्डी पठानकी कनपटी पर जड़ दी।

पठान एक आज़ाद और बहादुर कौम। भला उसमें इतनी बर्दाश्त कहाँ कि मार सह ले। बस मजबूत फेफड़ोंमें पूरा साँस भरकर पठानने गार्डकी कनपटी पर मारा जो घूँसा, तो घुसता चला गया और आर पार होगया। अब पठानका पंजा, तो गार्डके बाएँ कानकी तरफ निकला हुआ

और कोहनी दाएँकी तरफ और जो वह उसे खींचे, तो गार्ड चिल्लाए। ज्यों का त्यों दोनोंको अस्पताल ले गये, तो सिविल सर्जन लिंडसेने साफ कह दिया कि पठानका हाथ निकलते ही गार्ड मर जाएगा। इसे बचानेका बस यही इलाज है कि खानका हाथ काट दिया जाए। खान ऐंठा, इतराया और ६००० रुपये लेकर उसने हाथ कटवा लिया।

अब उस गार्डके बाएँ कान पर वह हाथ निकला हुआ है और वह रातमें उस पर लालटैन टांग लेता है। सच, पठानकी मोटी-मोटी उङ्गलियों से जब वह लालटैन हिलाता है, तो बड़ा मज़ेदार मालूम होता है। इस हाथके कारण ही उसे कुछ लोग कनपटिया और कुछ लालटैन बाबू कहते हैं।

अब बताओ, कहाँ दिमाग़की दरार और कहाँ पठानका हाथ, पर वाहरे डाक्टर लिंडसे; ऐसा फिट किया, ऐसा फिट किया कि जैसे पंलगके पावेंमें पट्टी और सेरवा। तो भाई, यह पोपलीलाकी बात नहीं, डाक्टरीके करश्मों-की कहानी है।

उनकी बात पूरी हुई, तो हम लोग फिर होशमें आये और ठहाका मारकर हँसे, पर लेखराजसिंह अब भी खामोश थे और मजा तो तब आया, जब उठते-उठते उन्होंने कहा—"लो, हँसी की बाततो हो ली, पर सच यह है कि कनपटिए बाबूका तो मुझे अब पता नहीं, पर भैंस बाबू तो अब भी लक्सरमें है और इलमकी कसम मैं आप लोगोंको उससे मिला-दूँगा एक बार!"

लेखराजसिंहकी ज़िन्दादिली गज़बकी थी और वे ब्रह्माके एक अद्भुत निर्माण थे। हँसना-हँसाना ही उनकी ज़िन्दगी थी—छिपाव और दुरावका लेश भी उनमें न था। बाहर भीतर वे सरल थे, सरस थे, सजीव थे; मनमौजी और आनन्दी—सबके दोस्त, सबके साथी।

चौधरी बिहारीलाल

तुम कन्हैयालाल हो ?"

जी हाँ।

"तो मैं बिहारीलाल हूँ मेरे दोस्त !"

चेहरा अनजाना-अनपहचाना, तो नाम अनसुना-सा, पर व्यवहार लंगोटिए यारका। यह है कौन ? मैंने सोचा और तब देखा गौरसे उनकी तरफ—रंग गाढ़ा-पक्का, आँखें बड़ी-बड़ी चंचल, बिना हँसे भी हँस पड़ते-से होंठ, पानकी लालीसे रचे मसूड़े और दाँत, लम्बी छरहरी देह और बिना रूपके भी एक रूपवान व्यक्तित्व; खादीके वेशसे झकाझक एक लीडरनुमा इन्सान यह।

चाय आई, बातें चलीं, जाना—आप हैं देहरादून निवासी चौधरी बिहारीलाल हरिजन नेता, मेरी तहसीलसे उत्तरप्रदेश असेम्बलीके भावी उम्मीदवार; सिगरेटके 'चेन स्मोकर' कि एक बुझे, तो एक जले और कश यों खींचें कि गुर्राटा लगे। मैंने कहा—अंगरेज़ोंको तो तुम इस धुएँमें ही उड़ा दोगे चौधरी साहब ! बोले—"अंगरेज तो बादमें उड़ेगा, पहले तो यह मेम्बरी उड़ानी है।" और इतने जोरसे हँसे कि क्या कहूँ—बरसों बाद भी वह चेहरा आँखोंमें घूम रहा है, हँसी कानोंमें गूंज रही है !

यह है अक्तूबर १९३६ की बात, जब देश अपने भाग्य-निर्णायक चुनावमें जूझनेकी तैयारी कर रहा था।

तलवार लेकर तो सभी मैदान मार लेते हैं, पर तारीफ तो उसकी है, जो खाली हाथ मुकाबला करे और मैदान मार ले। चौधरी बिहारीलाल ऐसे ही बहादुरोंमें थे। उन्होंने भारत रैदासी हरिजन जातिमें जन्म लिया था।

बादमें तो देशकी सूरत ही बदल गई—हर खिड़की और झरोखेसे प्रकाश बरस पड़ा, पर बीसवीं शताब्दीके एक दम आरम्भमें यह बात नहीं थी। तब किसी बालकका पढ़नेकी हिम्मत करना ही पाप था, पर बिहारीलाल अन्धकारमें खो जानेको नहीं, उसे खा जानेको पैदा हुए थे। वे उनमें थे, जिन्हें बाधाओंकी काली दीवारें अपने रास्तेसे कभी डिगा नहीं पातीं। बाधाओंसे लड़कर, उन्हें लाँघ कर उन्होंने हिन्दी-उर्दू और अंगरेजीकी शिक्षा प्राप्त की और सरकारके सर्वेक्षण विभागमें नौकर हो गये। सरकारी कुर्सी पर एक चमार, उस युगमें तो यह करश्मा ही था !!

यह आया १९२० और यह उठी गाँधीजी की आँधी। देशने करवट बदली और भारत माताने अपने सपूतोंको पुकारा। बिहारीलाल उस दिन अपने अंगरेज अफसरकी मेजके सामने जा खड़े हुए और एक कागज़ उसके सामने रख दिया।

"क्या है बिहारीलाल ? तरक्की चाहता है ?" अंगरेज अफसरने अपनी अदासे पूछा और इठलाकर बिहारीलालने कहा—"जी हाँ, अब मैं तरक्की चाहता हूँ।"

"हम तुम्हारे कामसे बहुत खुश हैं। तुम्हें हम एक स्पेशल इनक्रीमेंट (विशेष उन्नति) देंगे।" अफसरने लाड़से कहा तो बिहारीलाल बोले—"सर, आपकी मेहरबानीका शुक्रिया, पर मैं अब अपनी नहीं, अपने मुल्ककी तरक्की चाहता हूँ और यह मेरा प्रार्थना-पत्र नहीं, त्याग-पत्र है।"

अंगरेज अफसर जैसे आकाशसे गिर पड़ा। उसने इन्हें समझाया, लुभाया, परचाया और डाराया, पर देश-भक्तिका नशा कहीं समझाने-डरानेसे उतरता है ? चौधरी बिहारीलालने नौकरी छोड़ दी और आन्दोलनमें कूद पड़े। अब वे दफ्तरके दबे-बुचे बाबू नहीं, एक दहकता अंगारा थे। मंच पर यों दमकते कि लोग देखें और बिजलीकी तरह तड़पकर यों बोलते कि बादमें भी उनके बोल कानोंमें गूँजा करें। सचमुच उनके

व्याख्यानोंने चारों तरफ आग-सी बरसा दी, लोगोंने उन्हें हाथों-हाथ उठा लिया।'

हथकड़ियाँ उनके हाथोंको चूमने आ रहीं थीं कि गाँधीजीने आंदोलन रोक दिया, पर बिहारीलाल बढ़कर रुक जाने वालोंमें न थे। वे अब देशके रचनात्मक कामोंमें जुट पड़े। अछूत जातियोंका संगठन, उनमें शिक्षाका प्रचार, नशा-निवारण और दूसरे अनेक कार्योंमें उन्होंने अपनेको खपा दिया।

बवंडर तेलके दीपकोंको बुझा देता है और विप्लव हृदयके अनेक दीपकोंको जला देता है। बिहारीलाल भी एक विप्लवी दीपक ही थे, पर समयने बताया कि वे उनमें न थे, जो भभक कर बुझ जाते हैं, वे उनमें थे, जो जल उठते हैं, तो फिर जलते ही रहते हैं। सचाई यह है कि वे मिट्टीके मामूली दीपक न थे कि दूसरोंके जलाए जलें और दूसरोंके बुझाए बुझ जाएँ। उनके जीवनमें उनकी अपनी लौ थी; वे जीवन-आकाशके एक चमकते नक्षत्र थे।

राष्ट्रीयताका ज्वार देशमें उतरा कि साम्प्रदायिकताकी आग बरस पड़ी। मस्जिदके सामने बाजेका सवाल उठा और हिन्दू-मुस्लिम-दंगोंकी लहर आई। बड़े-बड़े बह गए, जो बह न पाए, वे थककर बैठ गए, पर १९२५ की एक घटनाने बताया कि बिहारीलाल तब भी अपने पूरे जलाल पर थे।

उन दिनों स्थानीय बोर्डोंमें एक हरिजन सरकार द्वारा नामजद मेम्बर हुआ करता था, पर चौधरी बिहारीलालने एक सवर्ण सीट पर चुनाव लड़नेकी घोषणाकी और शानसे मेम्बर हो गए। सारे देशमें वे ही पहले हरिजन थे, जो चुनाव द्वारा किसी स्थानीय बोर्डमें आम सीटसे सदस्य निर्वाचित हुए—यह जनता द्वारा चौधरी साहबके व्यक्तित्वकी स्वीकृति ही तो थी।

असलमें अब उनका व्यक्तित्व देहरादून या उत्तरप्रदेशका नहीं, सारे देशका हो चला था और हरिजनोंकी दृष्टिसे तो उनका व्यक्तित्व ही नहीं,

नेतृत्व भी अब अखिल भारतीय था। वे गाँधीजीके अत्यन्त विश्वासपात्र सैनिक थे और राष्ट्रकी सामाजिक प्रवृत्तियोंके कर्णधार लाला लाजपतराय तो उन्हें अपना मित्र ही मानते थे।

अजमेरमें राजपूताना और मालवाके हरिजनोंका जो सम्मेलन हुआ, उसके वे सभापति चुने गए। सभापति पदसे आपने जो भाषण दिया, वह देश भरके पत्रोंमें छपा और सभी कोनोंमें उसकी प्रशंसा हुई। ऐसा लगता था कि साम्प्रदायिकताकी बाढ़के उस नारकीय युगमें भी वे १६२० की हवामें ही जी-जाग रहे थे। वह भाषण इतना गरम था कि कई दिनों तक उनके गिरफ्तार होनेकी अफवाहें उड़ती रहीं।

चौधरी बिहारीलाल हरिजनोंके प्रश्नको, एक बड़ी बात है कि उस युगमें भी एक बड़ी नज़रसे देखते थे। उनके लिए हरिजनोंका प्रश्न विशाल-भारतका एक प्रश्न था—सिर्फ उनकी जातिका नहीं। यही कारण है कि उत्तरप्रदेशके मजदूरोंका लखनऊमें जो महोत्सव हुआ, उसके सभापति भी वे ही चुने गए। अपनी विशाल दृष्टिके कारण वे राष्ट्रकी दलित-पीड़ित मानवताके प्रतिनिधि हो गए थे।

मुंगेर-बिहारमें पूरे भारतके रैदासी हरिजनोंका जो सम्मेलन हुआ, उसके सभापति पदसे चौधरी बिहारीलालने कहा था—"हरिजनोंका मसला हिन्दुस्तानकी नई ज़िन्दगीका मसला है और हिन्दुस्तानकी नई ज़िन्दगीका मसला सारी दुनियाकी दलित-पीड़ित इन्सानियतका मसला है। हम उसे बिना हल किए कैसे चैनसे बैठ सकते हैं?"

भारतकी विभिन्न पार्टियोंका जो सर्वदल सम्मेलन बुलाया गया, उसमें अछूत जातियोंका प्रतिनिधित्व चौधरी बिहारीलालने किया और अपना पार्ट इतनी शान और ऊँचाईसे अदा किया कि मालवीयजी महाराज उन पर लट्टू हो गये।

. मालवीयजीने खुले आम उनका कन्धा क्या थपथपाया, उन्हें अपने साथ ही बाँध लिया, पर मालवीयजी उन दिनों हिन्दू महासभाका नेतृत्व कर रहे थे और उस वातावरणमें खप सकना इनके बसका न था, इसलिए यह संयोग कुछ ही दिन चला, चलकर टूट गया। जाति, धर्म या वर्गकी भाषामें सोचना उस राष्ट्र-दृष्टि पुरुषके लिए सम्भव ही न था! वे जिला कांग्रेस कमेटीके मन्त्री, कांग्रेस महासमितिके सदस्य और नगरपालिकाके उपाध्यक्षके रूपमें अपना काम करते रहे।

शांति हो या क्रांति, वे उनमें थे, जिन्हें चुप नहीं बैठना था—काम किये जाना था; तो साइमन कमीशन क्या आया, देशमें जोशकी सोई आँधी उमड़-उड़ी—'साइमन लौट जाओ' के नारोंसे वातावरण लरज उठा। चौधरी बिहारीलाल अब हवाके घोड़े पर सवार थे—आज यहाँ तो कल वहाँ, रात दिन कमीशनके बहिष्कारकी धुन; इस धुनमें उनकी लगन और योग्यता दोनोंका ऐसा सुन्दर प्रदर्शन हुआ कि लाला लाजपतरायने शत-शत मुखोंसे उनकी प्रशंसा की।

लगभग १० वर्ष देशमें आन्दोलन बन्द रहने और १९२४ से १९२८ तक धुआँधार साम्प्रदायिक दंगोंका मायाजाल देश भरमें बिछ जानेसे अंग्रेजका भारतकी राष्ट्रीय चेतनाके मर जानेका वहम कमीशनके बायकाट की गरमीमें झुलस गया, तो उसने राष्ट्रकी हिन्दू महाशक्तिको हमेशाके लिये क्षत-विक्षत करनेका एक नया दाव गाँठा। वह था अछूतोंमें आदि हिन्दू आन्दोलन!

इस आन्दोलनकी घोषणा थी कि अछूत लोग भारतके मूल निवासी हैं और हिन्दू लोगोंने बाहरसे आकर ताकतके जोरसे इन मूल निवासियोंको अछूत बना लिया है। यह एक बहुत तेज जहर था, जो देशकी राष्ट्रीय चेतना पर छिड़का जा रहा था। इसके एक नेता थे स्वामी अछूतानन्द और उनका मुख्य क्षेत्र था—उत्तर प्रदेश। गवर्नरके इशारे पर हर जिले का अंग्रेज़ कलक्टर और कप्तान स्वामी जी का सहायक था।

"चौधरी साहब मेरा नाम बिहारीलाल है और इस तहसीलसे यू०पी० असेम्बलीका चुनाव लड़नेका काम मुझे कांग्रेसने सौंपा है।" और वे इस तरह उनसे मिले, जैसे दोनों पुराने दोस्त हों। साइकिल खराब हो जानेसे वे उस दिन पैदल थे। चौधरी साहबने ज़िद करके उन्हें मोटर में बैठाया और ७ मील छोड़कर लौटे। वे अपने इस विरोधी उम्मीदवारकी लगन-हिम्मतके सदा प्रशंसक रहे और जीतनेके बाद एक दिन पूरे सम्मानके साथ उन्होंने होटलमें उन्हें चाय पिलाई।

उन्होंने कहा था—"मेरे पीछे काँग्रेसकी शक्ति है, मित्रोंका सहयोग है, आर्थिक सहायता है, फिर भी यह इकला हर गाँवमें मुझसे पहले पहुँचा है। मैं इसे चुनावमें जीत सकता हूँ, दिलमें नहीं।" वे हमेशा भाई बहादुर सिंहके प्रशंसक रहे और जब जहाँ मिलते, उन्हें ज़रूर पूछते थे।

चौधरी बिहारीलाल सचमुच बहुत उम्दा इन्सान थे। वे आदमीकी इज्जत करना जानते थे, आदमीको प्यार करना जानते थे, आदमीसे काम लेना जानते थे। उनमें कहीं बनावट न थी, दम्भ न था, दर्प न था—वे नेता होकर भी कार्यकर्ता थे और कार्यकर्ता होकर भी नेता थे।

चुनाव जीतकर, मंत्रिमंडल बना और वे एक्साइज विभागके पार्ला-मेंट्री सेक्रेटरी बनाये गये। उनके साथ अब लाल बनातके अङ्गरखेका अर्दली रहता था, वे सरकार थे, पर सबके साथ अब भी उनका व्यवहार वही घरेलू था।

१९३८ की काँग्रेसमें जाते हुए वे मार्गमें बीमार पड़े और १९४० में ४२ वर्षकी उम्रमें उनका देहान्त हो गया। उनकी उम्र मरनेकी उम्र न थी, फिर भी वे अपना काम कर गये—मिट्टीमें मिलनेसे पहले अपनी मिट्टीका पूरा मोल मातृभूमिको दे गये। जिन्होंने उन्हें नहीं देखा, वे उन्हें उत्तरप्रदेशके मन्त्री और उनके छोटे भाई चौधरी गिरधारी-लालकी आँखों और मुस्कराहटोंमें झाँकता देख सकते हैं।

नन्दा गाटा

लाला नन्दलाल अपने समयके बहुत बड़े धनी थे। वह कमाना भी जानते थे और खर्च करना भी—पूरे लाला थे, पर अपने किसी पूर्वजकी भूल-चूकसे उनका वंश 'गाटा' था—समाजमें लांछितोंकी श्रेणीमें गिना-माना।

लोग उन्हें अपनी बोलचालमें नन्दा गाटा कहकर पुकारते!

उनकी आँखोंमें अपना सदाचार था, उनके मस्तिष्कमें अपने संचित धनकी दीप्ति थी, वे रईस थे और रईसी उन दिनों सामाजिक प्रतिष्ठाका केन्द्र थी। वे भी अपनेको इस प्रतिष्ठाका केन्द्र देखना और अनुभव करना चाहते थे, पर चाहनेसे ही चाह पूरी नहीं होती! अपनी बहियोंमें वे कितने भी धनके अधीश्वर क्यों न हों, जनताकी वहीमें वे नादा गाटा थे।

उनका यह उपनाम उनके नामपर ऐसे ही चढ़ गया था, जैसे धनपतराय पर हिन्दीमें प्रेमचन्द। वे उसे सुनते और कुढ़ते, पर जनताकी आवाज़ तो रेडियोकी आवाज़ है कि हम उसे पसन्द करें या नापसन्द, पर बन्द नहीं कर सकते। अपने घर हम उसे बन्द भी कर दें, तो वह घर-घर जो बोल रहा है। कहाँ-कहाँ उसे कोई बन्द करे?

लाला नन्दलाल समाजमें ऊँचा उठना चाहते थे और यह नन्दा गाटा उसमें बाधक था, पर वे उद्यमी थे—बाधाओं पर विजय पाना उनका स्वभाव था। तो वे निराश क्यों हों? इसके लिए भी वे उद्योग करेंगे और समाजमें उनका जो स्थान है, उसे लेकर ही रहेंगे।

उन्होंने गहराईसे समाजकी मनोवृत्तियोंका अध्ययन किया। समाजमें जो लोग प्रतिष्ठाके ऊँचे आसनों पर बैठे थे, उनकी ऊँचाईकी नाप-जोख

की। उन दिनों ऊँची हवेलियाँ और शानदार शाहियाँ ही समाजमें ऊँचाई का मापदण्ड थीं। लाला नन्दलालने अपनी जन्मभूमि सहारनपुरमें एक स्वर्गीय भवनका निर्माण आरम्भ किया। दूर-दूरसे उस समयके अच्छे अच्छे कारीगर बुलाये गये और जनसाधारणकी भाषामें चाँदीके तगार घोल दिये!

* * * *

आज हम यह सुनते हैं, तो व्यंगसे हँस पड़ते हैं कि—वाहजी, अशिक्षाके उस युगमें ऊँचे मकान ही मनुष्यकी ऊँचाईका प्रतीक समझे जाते थे! समयके प्रभावसे वह युग बीत गया, अँगरेज़ी शिक्षाका प्रचार हुआ, उस अभिरुचिका अन्त हो गया और समाजमें मनुष्य रायबहादुरी, खानबहादुरी और दूसरे सरकारी सम्मानोंके फीतेसे नापा जाने लगा।

ठीक है, पहले युगके बहुतसे रईस हवेलियोंके चक्करमें बिगड़ गये और बादके युगमें बहुतसे रईस इन बहादुरियोंके पीछे दिवालियेकी दरख्वास्त लिये घूमे। सोचें, तो हवेलियाँ फिर भी ग़नीमत थीं। बिगड़े समय वे बन्धक तो रखी जा सकती थीं, पर इन बहादुरीके परवानों और तमगोंको तो अँगरेज़ी सरकारके बैंकने भी कभी तीन कौड़ीको नहीं पूछा! हाँ, कलक्टरों और कभी-कभी गवर्नरसे हाथ मिलवा देते थे ये तमगे-परवाने, पर समयकी नई करवटमें वे गवर्नर ही दब गये, तो ये तमगे-परवाने किस शमाके दीवाने होकर जलें-चमकें?

तब समाजमें ऊँचाईका आधार क्या रहा? म्यूनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंकी चेयरमैनी, विधान-सभाओं और संसद-सदनोंकी सदस्यता और मन्त्रिमण्डलोंके पद और इसी तरहकी कुछ और चीज़ें!!

सच यह है कि हम भटक गये हैं और समाजमें ऊँचाईके नित नये आधार रचते रहते हैं, परन्तु असली आधार है आत्माकी ऊँचाई, जीवनकी श्रेष्ठता। इसके बिना चतुरजन चार दिन भले ही चमक लें, उस

चमकसे समाज नहीं उठ सकता। हम तपके द्वारा उपार्जित आत्माकी—जीवनकी—ऊँचाईके साथ उठें और केवल उसीका मान करें, सत्यका यही एक पथ है।

*　　*　　*　　*

बरसों ठुक ठुक होनेके बाद नन्दा गाटेकी तिखनी हवेली दूरसे ही दिखाई देने लगी। जनतामें कौतूहल जाग चला था, विरोधियोंमें ईर्ष्या। हर ईंटकी उठानमें नन्दलालके इरादोंको उठान थी। वे फूलकर कुप्पा हुए जारहे थे। हवेली असलमें उनकी विजयका मोर्चा था!

दूर दूरसे चतुर चितेरे बुलाये गये। द्वार पर प्लास्तर हुआ, चित्रकारी आरम्भ हुई। एकसे बढ़कर एक बेल खिंची, चौखटे तैयार हुए। बड़े मिस्त्रीने अपनी ऊँची पैड़ पर बैठे ही बैठे उस दिन पूछा—"लालाजी, अब हुकम लगाइए कि किस किसकी तस्वीर बनाई जाय?"

लालाजी! सम्बोधन सुनकर नन्दा गाटेका रोम रोम खिल गया। उसने मन ही मन कहा—लालाजी!! और वह दिमागकी गहराइयोंमें उतर गया। तराजू और बाटमें उलझा रहने वाला वह लाला न था; वह मनोविज्ञान शब्दसे परिचित न होकर भी पूरा मनोवैज्ञानिक था। उसने सोचा—जनता तो भेड़-बकरी है, जिसका काम है पीछे चलना। वे कौन हैं, जो आगे चलते हैं? जनताकी आवाज़ तो प्रतिध्वनि है, वे कौन हैं, जिनकी आवाज़ ध्वनि है? ध्वनि साथ हो तो प्रतिध्वनि साथ होगी ही!

१८५७ का विप्लव तभी समाप्त हुआ था और ज़िलेके कलक्टर पंखी (स्पैंकी) साहब अपने पूरे ज़लालमें थे। एक पूरी सदी बीतने पर भी ज़िलेमें पचासों वृक्ष हैं, जो कराह कर, सिसक कर, चौंक कर पंखी साहबको याद करते हैं। इन्हीं वृक्षों पर सैकड़ों युवक और वृद्ध विद्रोही होनेके सन्देहमें खुले आम फाँसी पर लटकाये गये थे। उन दिनों पंखी साहबका नाम आतंकका तूफान था। वे कलक्टर, गवर्नर और गवर्नर जनरल सभी कुछ

थे, उनके मारेकी कहीं अपील न थी और जिसपर उनकी कृपा हो, उसे टोकनेकी ताकत किसीमें न थी।

नन्दा गाटेने उनपर निशाना लगाया और वह सफल हो गया। द्वार-पर पंखी साहबकी तस्वीर बनवाई गई—हूबहू, जैसे आजकलका फोटोग्राफ!

विप्लवके साथ मुस्लिम शासन समाप्त हो गया था। फिर भी उसके प्रभावका प्रतिनिधित्व करनेवाले लोग बाकी थे। इन प्रतिनिधियोंमें सर्वोत्तम थे शहरके क़ाज़ी साहब! एक चौखटेमें उनकी भी तस्वीर बनवाई गई।

शासन तन्त्रके प्रतिनिधि हुए पंखी साहब और मुस्लिम समाजके क़ाज़ीजी, बचा हिन्दू समाज; उसका प्रतिनिधि—सिर मौर—कौन है? कमाल कर दिया नन्दा गाटेकी सूझने, उसके साहसने और इस पद पर उसने प्रतिष्ठित किया स्वयं अपने आपको और पंखी साहब एवं क़ाज़ीजीके साथ बनवादी अपनी तस्वीर। चौखटके ठीक ऊपर उसने बैठाया वास्को-डिगामाको, तो दोनों ओर खड़े किये बन्दूकधारी दो अंगरेज सैनिक। साथमें नन्दा गाटेके कुछ वंशधर और बाकी सौन्दर्य चित्र।

ऊँची हवेलीका विशाल द्वार मथुराके मन्दिरोंकी झाँकी-सा जगमगा उठा। उसे देखने दूर-दूरसे लोग आने लगे—हर समय एक मेला-सा वहाँ लगा रहता; जैसे यह बारहमासी रामलीला हो। नन्दा गाटेने इस भीड़का पूरा लाभ उठाया और अपना एक मुनीम वहाँ बैठा दिया। वह आनेवाले लोगोंको हवेली दिखाता, उसकी खूबियाँ बखानता और अन्तमें उन चित्रोंका परिचय देता—"ये हैं पंखी साहब हाकिमेतख्त—समयके राजा। किसमें हिम्मत है जी, जो इनसे आँख मिलाकर बातें करे। और ये हैं हमारे शहरके क़ाज़ीजी; लाख हकूमत चली जाये मुसलमानोंके दिलों पर इन्हींका राज है। और देखिए ये हैं लाला नन्दलाल, जिन्होंने ऐसी हवेली बनाकर खड़ी कर दी, जैसी आस-पासके १०-५ जिलोंमें नहीं है।"

लाला नन्दलाल, लाला नन्दलाल, लाला नन्दलाल; सुनते-सुनते यह शब्द पहले कानोंको सह्य हुआ और तब सुहाने लगा, पर चतुर नन्दा देख रहा था कि यह अभी लोगोंके कण्ठोंमें सहज स्वर बनकर नहीं फूटा। ठीक है, नहीं फूटा, पर यह झरना तो नहीं है कि स्वयं फूट पड़े; यह तो कुँएकी बुम है, जिसे प्रयत्न पूर्वक फोड़ना पड़ता है।

पंखी साहबको तैयार किया गया कि वे एक दिन इस हवेलीको देखने पधारें। ऊँचा और शानदार शामियाना बाहर ताना गया, ज़रीकी मसनद लगाई गई और ४ घोड़ोंकी शानदार फिटनगाड़ीमें उन्हें बंगलेसे लाया गया। पंखी साहब शहरमें कहीं आयें, तो किस रईसजादे की हिम्मत है कि वहाँ हाज़िर न हो! तो पंखी साहब क्या आये, हवेलीका द्वार लाल-किलेका दीवाने आम हो गया।

हवेलीको देखकर बहुत खुश हुए पंखी साहब। मनमें सोचा—"ये तस्वीरें इस बातका सबूत हैं कि अब अंगरेज़ोंका रौब पूरी तरह हिन्दुस्तानियोंके दिल पर बैठ गया है।" और मुँहसे बोले—"वैल लाला नन्दलाल, तुमने बहुत अच्छा हवेली बनाया; हम इसे देखकर बहुत खुश हुआ।"

लाला नन्दलाल धन्य हो गये, मनोरथ पूर्ण हुआ, बरदान पाया और उन्होंने साहबके सामने कृतज्ञतासे सिर झुकाया, तो उनके कन्धे भी झुक गये। पंखी साहबका आना ही असाधारण बात थी, फिर सार्वजनिक रूपसे यह प्रशंसा, पर बात यहीं न रुकी—आज नन्दलालके सभी ग्रह अनुकूल थे।

पंखी साहबकी निगाह अचानक लाला गणेशीलालसे मिल गई, तो पूछा—"वैल लाला गणेशीलाल, तुम्हें कैसा लगा लाला नन्दलालका हवेली!"

बोले—"सरकार, लाला नन्दलालने तो यह हवेली बनाकर हमारे शहरकी इज्जतमें चार चाँद लगा दिये।"

पण्डित रेवतीशरण भी बराबरीके रईस थे। उन्हें गणेशीलालका साहब तक पहुँचना बुरा लगा। आगे बढ़कर उन्होंने साहबको सलाम का फर्राटा दिया और बोले—"हुजूर, लाला नन्दलालने तो हमारे शहरमें यह ताज महल ही बना दिया।"

फिर क्या था, सेठ कुन्दनलालने भी तारीफकी और ठाकुर बजरंग-सिंहने भी। सबके मुँह लाला नन्दलाल, सभीके मुँह लाला नन्दलाल! लाला नन्दलाल नम्रतासे झुककर दोहरे हुए जा रहे थे, पर यह अहंकारके विषैले साँपकी सुन्दर काँचली थी। भीतर वे सोच रहे थे—"मर गया नन्दा गाटा; अब किसकी मजाल है कि लाला नन्दलालको नन्दा गाटा कह सके!"

पंखी साहबने उन्हें लाला नन्दलाल कहा, तो वे गर्वित हुए, पर सुख मिला उन्हें गणेशीलाल, रेवतीशरण, कुन्दनलाल और बजरंगसिंहके मुखसे लाला नन्दलाल सुनकर। बाहरका मान आदमीके लिए लाख वैभव हो, उसका जीवन तो अपनोंका आदर ही है। फिर आज तो फर्शसे अर्श तक वे ही वे थे। कई दिन शहरमें इस उत्सवकी चर्चा रही; चर्चाकी चिड़िया घर-घर उड़ती फिरी।

* * * *

लाला नन्दलालने अब हवेलीकी बाईं दीवार पर पलस्तर शुरू कराया और चित्रकार अपने काम पर आ जुटे। दर्शकोंका ताँता लगा ही रहता, जिनमें नगरके प्रतिष्ठित पुरुष भी होते और इस प्रकार किसी न किसी नये मुखसे नन्दलालको लाला नन्दलाल कहलाने-सुननेका अवसर मिलता ही रहता। सच तो यह है कि लाला नन्दलालके लिए भी अब उनकी दिग्विजयके नगारे बाजार की बोलचाल हो गये थे और नन्दा गाटा तो अब स्वयं उनकी भी स्मृतिसे पार हो चला था। निश्चित रूपसे वे अब लाला नन्दलाल थे।

उसदिन सन्ध्या घिर आई थी, दर्शक जा चुके थे, कारीगर अपना हाथ रोकने को ही थे और लाला नन्दलाल नीचे खड़े मुग्ध भावसे अपने इस कीर्तिमन्दिरको देख ही रहे थे कि घास बेचकर घर लौटते चमार-चमारी आकर खड़े हो गये। चित्रकलाको वे बेचारे क्या समझते, पर हवेली देखनेका चाव तो उन्हें भी था ही।

लाला नन्दलालने उधर मुँह फेरा, तो चमारीकी आँखें उनपर पड़ीं। अपने पतिके कन्धे पर उँगली मार, धीरेसे उसने कहा—"देख, यो है वो नन्दा गाटा!"

लाला नन्दलालके चौकन्ने कानोंने चमारी की यह बात सुन ली। बात क्या सुन ली, उनकी दुनियाँ बदल गई। उनके भीतर पंखी साहबने जिस दर्प-वृक्षका आरोपण किया था और अपने बराबरी वालोंसे सिंचन पा, जो इन १०-२० दिनोंमें ही फूल कर फल चला था, वह एक दम मुर्झा गया।

उन्होंने एक झन्नाटेमें सोचा—ओह, नन्दा गाटा अभी जीवित है। पंखी साहबने उसके मर जानेकी जो घोषणा उस दिन की थी, वह एक सुख-स्वप्न ही था। बस और कुछ नहीं, हाय बस और कुछ भी नहीं।

वे सिहर उठे और बिखरे-बिखरेसे अपनी तस्वीर तक बढ़ आये। शानदार पगड़ी और बंडीसे सजी तस्वीर खड़ी थी। बोले—"क्यों खड़ा ऐंठ रहा है। नन्दलाल तू लाला नन्दलाल नहीं है। पंखी साहब तुझे लाख बार लाला कहें और शहरके सेठ-साहूकार दिनमें करोड़ बार उसे दोहरायें, जनता अपनी राय नहीं बदल सकती। तू नन्दा गाटा है, तुझे नन्दा गाटा बनकर जीना है, और सुन ले, नन्दा गाटा बनकर ही तू लकड़ियोंकी सेज पर सोयेगा।"

कमज़ोर आदमी झटका खाकर गिर पड़ता है और ताकतवर छलांग मार आगे बढ़ जाता है। नन्दलाल कमजोर न थे, छलांग मारकर खड़े

हो गये। बोले—"मिस्त्रीजी, इस चमार और चमारीकी तस्वीर आज ही इस दीवारपर बना दो।"

आश्चर्यसे मिस्त्रीने कहा—"आज ही सरकार?"

सम्बोधन अब फीके पड़ चुके थे। झल्लाया हुआ उत्तर मिला—"सरकार-वरकार कुछ नहीं। तस्वीरें अभी बनेंगी, पर सबको इनाम दिया जायेगा।"

इनाम मजदूरके लिए च्यवनप्राश है। वे सब सन्नद्ध हो गये कि जैसे प्रभातका कार्यारम्भ कर रहे हों। मशालें जलीं और रातों रात चमार दम्पति दीवार पर अंकित हुए।

दूसरे दिन पैड़ें खुल गईं, काम बन्द हो गया और कारीगरोंका हिसाब कर दिया गया।

* * * *

आज भी वे दीवारें अनपुती पड़ी हैं। भीतर हवेलीमें कुछ किरायेदार रहते हैं और दहलीज़ की छत पर कालन्चिड़ीके परिवारका अखंड राज्य है। पगड़ी और बण्डीसे सजी नन्दागाटेकी तस्वीर आज भी ज्यों की त्यों खड़ी है।

कभी-कभी सन्ध्याके झुटपुटेमें वह बोलती है—"मैं ईंट-पत्थरके सहारे ऊँचा उठना चाहता था, पर ईंट-पत्थर ऊँचे हुए, उनके सहारे मैं न उठ सका; मेरा इतना समय व्यर्थ गया। उसे मैं अपनेको ऊँचा उठानेमें लगाता, तो निश्चय ही सफलता मेरे पैर चूमती।"

कभी-कभी तो सुना है, यह तस्वीर बहुत ज़ोरसे पुकार उठती है—"लोगो, तुम आज भी भटक रहे हो, मेरे अनुभवसे लाभ नहीं उठाते और अपनेको ऊँचा न उठाकर, ईंटों और कुरसियोंके सहारे ऊँचा दीखनेके प्रयत्नोंमें समय खो रहे हो। याद रखो, यह सफलताका नहीं, असफलताका मार्ग है।"

गोरा दीवान

उनका नाम था गोरा दीवान। सच यह कि नाम तो पता नहीं, उनका क्या था, पर हम सब उन्हें कहते थे गोरा दीवान। कांग्रेसके जल्सोंमें भाषणोंकी रिपोर्ट लिखनेका काम खुफिया पुलिसके जो दीवान करते थे, उनका रंग भरपूर काला था और सब उन्हें काली चिड़िया कहकर चिढ़ाया करते थे।

उनके बारेमें यह मशहूर था कि वे भाषणोंकी झूठी रिपोर्ट लिखकर कार्यकर्ताओंको जेल भिजवानेमें मास्टर हैं, पर एक घटनाने उन्हें अँगरेज़ सरकारकी जगह मेरा दीवान बना दिया था। मैं भाषण दे रहा था और वे उसकी रिपोर्ट लिख रहे थे—मंचसे दूर अपनी छोटी-सी लालटैनकी रोशनी में। तभी किसी तेज़-तर्राक़ लड़केने ऐसा साधकर डला फेंका कि चिमनी तो फूटी ही, उनकी लालटैन भी उलट गई। जल्सेमें बैठे लोग ज़ोरोंसे हँस पड़े और तालियाँ पीटने लगे।

मैंने कड़ककर कहा—शर्मकी बातपर आपलोग हँस रहे हैं? मैं इसके लिए खुलेआम दीवान साहबसे माफी माँगता हूँ। यह माफी शहरकी कांग्रेसके प्रेजीडेंटकी माफी है, इसलिए आपकी माफी है। क्या यह कोई शोभाकी बात है कि सारा शहर अँगरेजी सरकारके एक कर्मचारीसे माफी माँगे? आपने उनकी लालटैन तोड़ी है, इसलिए जबतक आप उन्हें दूसरी लालटैन न दें, मैं अपना भाषण जारी नहीं करूँगा।"

सामनेका एक दूकानदार अपनी लालटैन दीवानको दे गया और हम दोनों अपने-अपने काममें लग गये। भाषणके बाद मैं अपने घर चला आया, तो पीछे-पीछे ही आ पहुँचे दीवान जी। वे मेरे आजके व्यवहारसे मेरे प्रति कृतज्ञ ही नहीं थे, भाव-विभोर थे और इसके बाद तो उनके-मेरे सम्बन्ध इतने आत्मीय हो गये कि मैं उन्हें बता दिया करता

था कि अमुक कार्यकर्ताको अभी इतने दिन जेल नहीं भेजना है। बस वे उसके भाषणकी रिपोर्ट मुझे दिखा दिया करते थे और उसमेंसे मेरा बताया हुआ अंश काट भी देते थे।

उन्हीं दिनों आ गये एक दूसरे दीवान। पढ़े-लिखे, काममें होश्यार, व्यवहारमें मधुर और यों कोतवालके मुँह लगे। इतने खूबसूरत कि दूरसे ही खानदानी सैयद मालूम हों। बस काला दीवानकी तुकमें उनका बोलता नाम पड़ गया गोरा दीवान। जहाँ भी मिलते, सलाम करते, हाल-चाल पूछते और मेरे किसी भाषणकी चर्चा करते। उनकी भलमनसाहतका मुझपर असर पड़ता।

उनके आनेके कुछ दिन बाद ही वह राजनैतिक कान्फ्रेंस हुई, जिसके अन्तमें मैं गिरफ्तार हो गया। एक दिन शामको वे आये और कान्फ्रेंसके चन्देमें मुझे पाँच रुपये दे गये। बोले—"मुल्कके काममें मदद तो कुछ कर नहीं सकता, पर कोशिस करता हूँ कि किसी तरह की रुकावट न बनूँ।"

इसके बाद मेरी जेलयात्रा, गान्धी-इरविन समझौता, गोलमेज कान्फ्रेंस-में गान्धीजीकी इंगलैंड यात्रा और तब लार्ड विलिंगडनकी धमाचौकड़ी। १९३० में भी हम अँगरेजसे लड़े थे और १९३२ में भी लड़े; दोनोंमें जमकर बाजी लगी, पर १९३० में थी पटेबाजी, तो १९३२ में कुश्ती! १९३२ में छेड़छाड़ न थी, काटछाँट थी; मजे न थे, मोर्चा था; हटना-हटाना न था, पिटना-पीटना था। १९३० में बाज़ी जमी थी, १९३२ में ठन गई थी। १९३० में पहल हमारी थी, वे बचावमें थे, तो १९३२ में पहल उनकी थी, हम बचावमें थे, पर यह बचाव हमें शानसे करना था—हारना भी था, तो आनसे हारना था!

तभीकी बात है—मेरे साथी कार्यकर्ता थे पण्डित हरद्वारीलाल। उम्रके विचारसे वे वृद्ध थे, पर जोश इतना कि उन्हें देखकर हमारी जवानियाँ शरमातीं। १९३० में उनके भाषणोंने तहसीलमें आग बरसा दी थी। वे

भाषण भी देते और भजन भी गाते। ये भजन लिखते भी वे स्वयं ही थे, इसलिए उनके भजन स्थानीय परिस्थितिसे एकदम चस्पाँ होते।

१६३० में धूम थी पण्डित हरद्वारीलाल की, पर १६३२ तो १६३० नहीं था। लार्ड विलिंगडन एकदम आतंकवादी था और लन्दनसे लौटते ही गान्धीजी की मुलाकात-प्रार्थनाको अस्वीकृत एवं झपाटेके साथ उन्हें गिरफ्तार करके वह अपना सिक्का जमा चुका था। गान्धीजी की गिरफ्तारी पर देश-भरमें जल्से जलूस हुए, उनपर करारे लाठी चार्ज कराकर उसने जनताको बता दिया था कि अब नारा लगाना नमूनेका आम नहीं है कि उसकी कीमत न देनी पड़े और इस तरह उसने कांग्रेस और जनताके बीच एक ऊँची दीवार खींच दी थी। यह दीवार ऊँची तो इतनी थी कि जब कांग्रेसके २-४ बलिदानी स्वयंसेवक इधर-उधरकी गलियोंसे बाज़ारमें आ कूदते और नारे लगाने लगते, तो सब दूकानदार अपनी-अपनी दूकानपर इस तरह बैठे रहते कि जैसे उनके कान ही न हों और जब भागती-दौड़ती पुलिस आकर बेदर्दीसे उनपर डण्डे बरसाने लगती, उनके सिर फोड़ डालती, तो सब दूकानदार अपनी-अपनी जगह इस तरह बैठे रहते कि जैसे उनके आँख ही न हो! यही नहीं, जिन कांग्रेसियोंको इस बार जेल नहीं जाना था, वे भी हमसे कन्नी काट जाते, मिलनेसे बचते और घर जानेपर ऊपरसे ही मना करा देते। चारों ओर आतंककी आँधियाँ चल रहीं थीं, जिनमें लाठियोंकी कड़क थी, तो गोलियोंकी धड़क भी थी!

एमर्जेंसी पावर ऑर्डीनैंसकी पूरी धाराओंका नोटिस तामील करके सरकारने मुझे जेल आनेका अत्यन्त सम्मानित निमन्त्रण भेजा; क्योंकि उत्तर प्रदेशमें यह दूसरा ही नोटिस था। पहला नोटिस वह तीन दिन पहले पण्डित जवाहरलाल नेहरू पर तामील कर चुकी थी और तीसरे नोटिसकी शायद उसे ज़रूरत ही नहीं पड़ी।

इसे न माननेका अर्थ था २॥ सालकी सख्त कैद, पर तभी मेरे

पिताजीकी मृत्यु हुई थी और जिस दिन मेरे नगरका नया काल-कलूटा कोतवाल यह नोटिस लाया, उसीदिन बेटी ईश्वरीका जन्म हुआ।

पण्डित हरद्वारीलाल आये और अड़ गये कि आप अभी जेल न जायें और मुझे जाने दें। उनकी दलील थी कि मेरे जानेसे तहसीलके संगठनको धक्का लगेगा और अचानक आन्दोलन छिड़ जानेसे देहाती कार्य-कर्ताओंमें जो हड़बड़ाहट आई है, वह व्यवस्थित न हो सकेगी।

मैंने कहा—"मैं भी एक महीना जेल नहीं जाना चाहता, जिससे प्रभाजी उठने-फिरने लायक हो जाएँ, पर प्रश्न तो यह है कि मैं आपके बिना देहाती कामको कैसे सम्भालूँगा?"

मास्टर काशीरामजी कूद कर खड़े होगये—"आप दोनों रुकिए, मैं जाऊँगा पहले।"

ओह, ये कैसे दिन थे कि दुनिया कुछ पानेको परेशान रहती है, हम खोनेकी होड़ बधा करते थे। देना हमारा धर्म था, लेनेकी कोई चाह ही न थी, मिटना ही जैसे हमारा सबसे बड़ा अरमान था।

थप! थप!! तभी किसीने किवाड़ों पर दस्तक दी। मास्टरजीने खिड़कीसे झाँका और बोले—"गोरा दीवान है, लो लद गये तीनों!" मैंने उन दोनोंको दूसरे कमरेमें किया और बैठकके किवाड़ खोले। वे झपटकर भीतर घुस आये और धीरेसे बोले—"पण्डित हरद्वारीलालको फौरन कहीं गाँव भेज दो। डिप्टी साहब उन्हें गिरफ्तार करने खुद सहारनपुरसे आये हैं।" और मैं उनसे कुछ कहूँ-कहूँ कि वे छलांगकर चले भी गये।

हम तीनोंने चटपट सलाह की। अब हरद्वारीलाल जी तो उड़े गाँवकी ओर, मास्टरजी होगये डिक्टेटर और मैं गुप चुप!

मास्टरजीने अपने जेल जानेकी तारीख निश्चित कर दी और ऐलान होगया कि वे उस तारीखको एक जलूसके साथ दफा ४४ भंग करेंगे।

यह जलूस ४ बजे निकलना था कि ३ बजे 'गोरा दीवान' मेरे पास आये। बोले—"सहारनपुरसे ८ लाठी बहादुर सिपाहियोंको लेकर डिप्टी साहब आये हैं और आज तहसीलके सामने ऐसा लाठी चार्ज होगा कि हड्डियाँ टूट जायेंगी और सिर फूट जायेंगे। आप ऐसा इन्तजाम कर दें कि जलूस तहसीलके सामनेसे आये ही नहीं। ऐलान यही हुआ है कि जलूस निकलेगा। यह तो नहीं हुआ कि किस रास्ते निकलेगा!"

बहुत बारीक बात थी। मैं उन्हें धन्यवाद देने लगा, तो उन्होंने अपना खूब सूरत हाथ मेरे मुँह पर रख दिया और बोले—"मैं हूँ ही किस लायक, जो कुछ खिदमत कर सकूँ।"

१५ स्वयंसेवकोंके साथ मास्टर जीने जलूस निकाला। नारे लगाते, जय बोलते और जगह-जगह छोटे भाषण देते, वे मण्डी पहुँच गये। वहाँ उन्होंने झण्डा लहराया, भाषण दिया, १४ स्वयंसेवकोंको अपने-अपने गाँवमें जाकर दफा ४४ तोड़नेको भेज दिया और एकके साथ वहीं खड़े नारे लगाते रहे। डिप्टी साहबने यह सब सुना तो बहुत पछताये। बादमें गोरा दीवान ही एक दिन बता गये कि अंगरेज़ कलक्टरने इसके लिए उन्हें ऐसा लताड़ा कि घिघियाकर रह गये।

अपनी झेंप मिटानेके लिए डिप्टी साहबने अब तुरन्त पण्डित हरद्वारीलालको गिरफ्तार करनेकी ठानी, पर हरद्वारीलाल है कहाँ? सी० आई० डी०के कबूतर चारों ओर उड़ा दिये गये और गाँव-गाँवमें खबर कर दी गई कि पण्डित हरद्वारीलाल आयें, तो खबर दें, पर पण्डित हरद्वारीलाल अचानक किसी गाँवमें आते, अपना टीनका टुकड़ा बजाकर ऐलान करते, लोग इकट्ठा होते, वे झण्डा फहराते, भाषण देते, दफा ४४ तोड़ते और दूरके किसी अज्ञात गाँवमें चले जाते। मेरे पास यह खबर आजाती और मैं इसे कांग्रेस बुलेटिनमें लिखाकर सब जगह बाँट-चिपका देता। शीर्षक लगाता—'इस सप्ताह अंगरेज़ी सरकारकी नाक ७ जगह कटी!' नीचे सब

गाँवोंका सच्चा विवरण देता। सब परेशान थे कि यह बुलेटिन कौन लिखता है, कौन बाँटता है कि डिप्टी साहबके किवाड़ों पर भी चिपका मिलता है, कोतवालकी मेजपर रखा मिलता है, कलक्टरके दफ्तरमें पड़ा मिलता है, पुलिस चौकियोंमें पहुँचता है और जनतामें बँटता है।

एक दिन पुलिसको खबर लगी कि आज पण्डित हरद्वारीलाल डाकू रणखण्डी पर धावा बोलेगा। पुलिस की उनदिनों यही भाषा थी। साइकिलों पर दो सिपाही रणखण्डीको दौड़ाये गये कि डाकू भाग न जाये, पर देखिए भाग्यकी मसखरीकि वे दोनों सिपाही मेरे पास आते पण्डित हरद्वारी लालको रास्तेमें मिले। उन्हें दूरसे देखते ही पण्डित जीने धोती घुटनोंसे ऊपर चढ़ा ली, जूते हाथमें ले लिये और गठरी सिर पर रख ली।

एक सिपाहीने उनसे पूछा—"कहाँ से आरहा है ?"

उत्तर मिला—"रणखंडीसे हजूर !"

"वहाँ क्या हो रहा है ?"

"हजूर, कांग्रेसका जल्सा होने वाला है। हजारों आदमी इकट्ठे हो रहे हैं। कोई हरद्वारी लाल लीडर है, उसका लच्चकर होगा।"

दोनों सिपाही उड़ चले रणखण्डीकी तरफ—आज तो बस बन गया काम और पण्डित हरद्वारीलाल आ पहुँचे मेरे घर। शामके झुट-पुटेमें अपनेको ढके-ढाँपे वे आये थे, फिर भी यह खबर जाने कैसे कोतवाली पहुँच गई, पर जानता हूँ कैसे, उसी समय यह खबर मुझे भी मिल गई। कोई रहस्यकी बात नहीं, यह हमारे देवदूत गोरा दीवानका चमत्कार था। मैं तुरन्त पण्डित जीको कांग्रेसके झण्डा बरदार हरिश्चन्द्र मुनिके घर सुला आया और प्रतीक्षा करने लगा।

थोड़ी ही देरमें मेरी गली सजे सिपाहियोंसे भर गई और टार्च चमकने लगे, सीटियाँ बजने लगीं। मैंने अनजान बन खिड़कीसे झाँककर पूछा—"क्या बात है कोतवाल साहब ?"

"ज़रा किवाड़ खुलवाइये, तो बताऊँ।"

"रातमें १० बजे मुझसे ही मुलाकात करने आये हैं क्या? तब तो मैं सामान लेकर ही नीचे उतरता हूँ; आप ज़रा ठहरिये।"

"खुदाकी कसम आपके बारेमें कोई बात नहीं है। आप बेफिक्र होकर किवाड़ खुलवा दें।"

मैंने जाकर किवाड़ खोले, तो वे भीतर आने लगे। मैंने उन्हें रोककर कहा—"देखिये, आप इस समय वर्दीमें हैं और इसलिये मेरे दुश्मनके आदमी हैं। नम्बर एक बात तो यह है कि पहले आप मुझे तलाशीका वारंट दिखाइए और नम्बर दो बात यह है कि भीतर आनेसे पहले बाहर गलीमें खड़े होकर अपनी तलाशी दीजिए।"

बोले—"सच कहूँ आपसे, मुझे आपसे कुछ नहीं कहना; मुझे तो उस कम्बख्त हरद्वारीलाल की ज़रूरत है।"

मैंने ज़रा बनकर कहा—"पण्डित हरद्वारीलाल? उनकी तो तस्वीर भी मेरे घरमें नहीं है।"

बोले—"यह बेपरकी मत उड़ाइये पण्डितजी! वे इसी घरमें हैं और अब मैं उन्हें लेकर ही जाऊँगा।"

"अच्छा फिर यह बात है, तो तशरीफ लाइये और दिखाइये अपनी कारसाज़ी!"

वे तीन सिपाहियोंके साथ भीतर आ गये और बार-बार कमरोंमें इधरसे-उधर लगे चक्कर काटने, पर उनके चक्करमें पण्डित हरद्वारीलाल न आये। मायूस हो बाहर निकले, तो गोरे दीवानने उनसे पूछा—"सरकार, हरद्वारीलाल कहाँ है?"

"जहन्नुममें!" जलकर कोतवालने कहा और चल दिये, पर तभी ऊपरकी खिड़कीसे भोदत्त बाबाने पूछा—"क्या बात है भाई?" तो गलीमें खड़े एक शैतान लड़केने कहा—"दरोगाजी पान खाने आये थे,

पर भूलसे नागफनीका पत्ता चाब गये !" सुना सबने, पर दरोगाजी तो हो गये छछून्दर और बाकी सब फूँट !

पण्डित हरद्वारीलाल पुलिसके लिए डर्बीकी लाटरी हो रहे थे और वे उस दावकी तरह थे, जिस पर बाजीकी हार-जीतका फैसला निर्भर होता है। उत्तेजनाके कारण मुझे नींद न आ रही थी कि तभी किसीने मुझे पुकारा—आवाज़ बहुत ही कोमल। जल्दीसे उठकर खिड़कीसे झाँका, तो एक बुरके-वाली औरत और साथमें एक लड़का। झपटकर नीचे गया, किवाड़ खोले, तो सुना—"यह आपके दीवान साहबका बेटा है, मैं इसकी माँ हूँ। पण्डित हरद्वारीलाल की नई जगहका पता चल गया है और सब चौकियोंसे पूरी फोर्स बुलाई गई है। आप उन्हें कहीं दूर हटा दें—सलाम।" और वे दोनों चले गये।

भावनाकी उत्तेजनासे मैं हड़बड़ा-सा गया, पर तुरन्त सँभला और पण्डित हरद्वारीलालको वहाँसे उठाकर जंगलमें खेतकी एक झोपड़ी पर सुला आया। उनकी तबियत ठीक न थी, चलनेका उनमें बल न था। हमारे आनेके कुछ देर बाद ही पुलिस वहाँ जा धमकी, पर मुनिने उन्हें बहुत छकाया। पहले तो किवाड़ ही नहीं खोले, फिर सबकी तलाशी ली और तब भीतर आने दिया, पर वहाँ हरद्वारीलाल कहाँ थे? कोतवाल इतना बेचैन हो रहा था कि उसने एक सन्दूकमें हाथ डालकर देखा और खाटोंके नीचे भी झाँकता फिरा।

अन्तमें गिड़-गिड़ाकर उसने कहा—"मुनि, सच बताओ, डाकू कहाँ है?"

मुनि महामसखरा। रहस्यवादी टोनमें बोला—"डाकू नहीं, चोर कहिये।"

"चोर?" हल्की-सी उमीदके साथ कोतवालने कहा—"कहाँ है चोर?"

"मैं हूँ तो आपके सामने। आप जानते नहीं कि मैं सुनार हूँ और

सुनारके बारेमें कहावत है कि वह अपनी माके कण्ठलेमें भी चोरी करता है।"

"यार, तुम मज़ाक कर रहे हो और मेरी जानको बन रही है। कुछ मदद करो ना!" कोतवालने नम्र होकर कहा, तो दयालु हो मुनिने पूछा—"आख़िर क्या परेशानी है आपको?"

"मुझे हरद्वारीलालकी तलाश है, और मेरा दिल कहता है कि तुम्हें उसका पता है।" कोतवालने दोस्ताना टोनमें कहा।

"हाँ, पता है, पर आपने मुझसे उसका पता पूछा ही कब? आप तो मेरे घर की तलाशी लेनेपर पिल पड़े!" उलाहनेकी टोनमें मुनिने कहा, तो कोतवालका दिल कामयाबीकी उमीदोंसे भर गया।

"अच्छा, यह भूल हुई, पर उसका पता बताओ।"

"पासके मकानमें हैं।"

"सच!"

"ईश्वरकी कसम!"

कोतवालने अपने ४० सिपाहियोंके साथ पासका मकान घेर लिया। एक बुढ़ियाने किवाड़ खोले, तो कोतवालने पूछा—"मा, हरद्वारीलाल कहाँ है?" उत्तर मिला—"भीतर सो रहा है।"

कोतवाल भूखे भेड़िये की तरह भीतर घुसा और उसने सिपाहियोंके साथ पलंग घेर लिया। सोनेवाला उठा, तो अजीब दृश्य—हे भगवान्, क्या मुसीबत है?

"तुम्हारा नाम?" कड़ककर कोतवालने पूछा।

"हरद्वारीलाल है मेरा नाम, पर बात क्या है?"

कई टार्चोंकी रोशनी एक साथ हरद्वारीलालके मुँह पर पड़ी, तो सबके चेहरे फीके पड़ गये। यह हरिश्चन्द्र मुनिके बड़े भाई हरद्वारीलाल थे, कांग्रेस कार्यकर्ता पं० हरद्वारीलाल नहीं।"

मुनिको गालियाँ देता कोतवाल जब लौटा, तो रातके १२ बज चुके थे। दूसरे दिन गोरा दीवान शामको मेरे पास आये और बोले—"जब बुढ़ियाने कोतवालसे कहा कि हरद्वारीलाल भीतर सो रहा है, तो मेरी जान सूख गई और मैंने सोचा कि लो भाई, अब गई इज़्ज़त!"

ओह, गोरा दीवान पण्डित हरद्वारीलालकी गिरफ्तारीको अपनी इज़्ज़तका सवाल मानते हैं, सोचकर गुलाबकी एक महक-सी मुझे छू गयी और मैं उन्हें देखता ही रह गया!

गोरा दीवान, मुल्ककी आज़ादीका वफादार सिपाही, पर जिसका नाम भी हम नहीं जानते!

बलदेव बाबा

बलदेवजीका घर हमारे घरके पीछे था। प्लेगके एक प्रकोपमें उनकी पत्नी, पुत्र और पुत्री मर गये, तो मेरे सहृदय पिताने उन्हें अपने पास रख लिया था। वे दिन भर हमारे यहाँ रहते और रातमें अपने घर जा सोते। हमारे ही घर खाते-पीते और कपड़ा पहनते। जितनी सेवा उन्होंने हमारे परिवारकी की, उतनी तीन प्रशिक्षित सचिव भी नहीं कर सकते, पर माके लिए वे बोझ थे और पिताजीके लिए उनके बड़े भाई।

माका अन्ध विश्वास था कि यह अभागा है और जबसे मेरे घर आया, मनहूसियत छा गई। पहले इसने अपने घरका सफाया किया, अब यहाँ आया, तो मेरे इतने पुत्र-पुत्री मर गये। इस तरह हमारे घरमें वे निरपराध दंडित थे, पर निश्चय ही पिताजी की दृष्टिमें उनका बड़ा मान था। कभी-कभी वे माको समझाया करते थे—"इसके सामने सब मर गये तो क्या; इसीके सामने सब जन्मे भी तो थे।" फिर भी मा मानती न थी और उन्हें जली-कटी सुनाती रहती थी; पर वे बहुत सहिष्णु थे और बादमें तो भगवान्‌ने उनके कानोंकी श्रवणशक्ति ही हर ली थी।

१८५७ के विप्लवमें वे नवयुवक थे और १९१८ में जब उनकी मृत्यु हुई तो वे ९० वर्षसे अधिकके ही थे। तब भी उनके दाँत टूटे न थे, घिस गये थे। वे उन्हें भोजन करने में कष्ट देते थे। मा उन्हें बासी रोटी दे देती, तो कष्ट और भी बढ़ जाता। वे बहुत धीरे-धीरे टुकड़ा चबाते थे। चबाते क्या, पपोलते थे। मा इसे भी अपशकुन समझती थी। वैसे उस उम्रमें भी वे अखंड पुरुषार्थी थे।

श्रावणमें वे बराबर मणकेश्वर महादेवकी पूजा करने घरसे तीन मील जाया करते थे और हमारे लिए मीठी जामने-जमोये लाया करते थे।

हमारे घरको बरसातके बाद ल्सेसने और छतोंकी मरम्मत करनेके लिए हर साल वे जंगलके जोहड़ोंसे गारा लाया करते थे। वे बहुत-सा गारा कंधों पर लाद लेते और हाँपते चले आते। इस तरह कई दिनोंमें वे गारेका एक तगार-सा बनाते और फिर उसमें भूसा सान कर छत-दीवारों पर लेपते। गरमीके मौसममें दूर-दूरके कुओंसे मीठा-ठंडा पानी हमारे लिये लाते और उसकी खूबियाँ बखानते। घरके लिए बाजारसे सब सामान लाते और काममें जुटे रहते। अपने भोजनके बर्तन स्वयं मांजते और वे अपना कोई छोटा-सा काम भी कभी किसी पर न डालते।

बादमें बरसों तक उनका यह क्रम रहा कि दोनो समय पढ़नेकेलिये मुझे विद्यालय छोड़ने जाते और छुट्टीके समय साथ लाते। इसी समय वे पिताजीके लिए कीकरकी दतावनें, पूजाके लिए फूल, मौसम पर चटनीके लिए कच्चे आम, रायतेके लिए कचनारियाँ और सब्जीके लिए कटहलके फूल जंगलसे ले आया करते। अन्तिम दिनोंमें उनका शरीर काँपने लगा था। फिर भी वे सुगमतासे ऊँचे वृक्षों पर चढ़ जाते और उनकी डाल-डाल पर घूमते।

अपने किसी दुःखकी चर्चा उन्होंने कभी किसीसे नहीं की, न उसे याद कर वे कभी रोये-उदास हुए और न कभी किसीसे किसी बातकी शिकायत करते ही मैंने उन्हें सुना। परिग्रह भी उनमें न था। सर्दियोंमें वे कुरते पर रूईकी बंडी पहने घूमा करते और गर्मीमें आधी धोती पहने और आधी ओढ़े ही मगन रहते। गरमियोंमें वे अपना कुरता-बंडी किसी गरीब को दे दिया करते। वे खुद गरीब कहाँ थे? उनके रोम-रोममें मस्ती भरी हुई थी। अक्सर वे बच्चोंको चारों ओर बैठा लेते और हाथसे बगल बजाकर नाचते-नाचते कीर्तन किया करते। इस नृत्यमें थिरकन भी होती और लीनता भी।

वे मुझे १८५७ के आँखों देखे विप्लवकी मर्मस्पर्शी कहानियाँ सुनाया करते थे। वे १८५७ में पूरे जवान थे। उनका एक वाक्य मुझे

हमेशा याद आता है—"लोग अँगरेज़ोंसे लड़नेको उठे थे, पर उन्हें भूलकर आपसमें भिड़ गये। मैं तुझे, तू मुझे मारने-लूटने लगा। रियाया उसी बातमें फँस गई। बेटा, और मूरख कैसे होते हैं?" मैंने अक्सर सोचा है कि मेरे अनपढ़ बाबा बलदेवके इस वाक्यमें इस बातका पूरा इतिहास है कि विप्लव कैसे ग़दर हो गया।

मेरी जन्मभूमि देवबन्दके प्रसिद्ध धनपति पं० भगवानदास मिश्रका घर भूलन गुजरने लूटा, तो वह ढोल बजाता हुआ अपने दलके साथ आया। मिश्रजीके द्वार पर कभी भूलनकी अवज्ञा या उपेक्षा हुई थी, इसलिए दरवाज़ेकी ओरसे चढ़ाई न करके उसने पीछेकी दीवार तोड़कर हवेलीमें प्रवेश किया और जो लूट सका, लूटा; जो न लूट सका, फूँक गया। जब सब मिलाकर भी ज़रीका शामियाना न उठा सके, तो उसमें आग लगा दी गई। कई दिन बाद उसकी राखमेंसे कई धड़ी चाँदी-सोना निकला था। यों लोगोंने विप्लवके नामपर अपने निजी बदले निकाले थे और गाँवोंके तगड़े लोग शहरों-कस्बोंमें घुस आये थे।

हालत इस हदतक बिगड़ गई कि लुटेरे यों हुड़दंगा करते गलियोंमें फिरने लगे कि जैसे आज होली हो और सबको सब-कुछ करनेका लाइसेंस मिल गया हो। तरुण बलदेवने परिस्थितिको समझा और लोटा-डोर लेकर मुहल्लेके कुँएपर आ बैठा। गरमीका मौसम था। वह आते-जाते हुड़दंगियोंको पानी पिलाता। लोग उसके सामनेसे कन्धोंपर लूटका माल लिये आते और उसे नीचे रखकर पानी पीते। वह सामान कभी-कभी बहुत ही मामूली होता और वे उसे ले तो आते, पर ले न जाते—वहीं कुँएके पास छोड़ जाते। एक युवक किसीकी चक्की उठा लाया और वहाँ पटक गया। कुएँके चारों तरफ इस तरहके सामानकी अच्छी खासी प्रदर्शनी-सी लग गई थी। वृत्तियाँ किस हदतक क्षुद्र हो गईं थीं, इसका सर्वोत्तम उदाहरण यह है कि एक युवकने तलवारसे डोर काटकर बलदेवजीका वह लोटा ही

झपट लिया, पर तभी आ-पहुँचे एक वृद्धने उसे डाँटा और लोटा वापस करा दिया।

लूट और हुड़दंगकी इस भीड़में कभी-कभी कोई आदमी ऐसा भी आता था, जो पूछता था—"बताओ भैया, अँगरेज़ कहाँ छिपे हैं?" और वह बलदेवजीको यह समझानेकी चेष्टा करता था कि अँगरेज़को बचाना पाप है।

हुड़दंगेसे पूर्व ही ५-७ अँगरेज़ स्त्री-पुरुष मेरठसे भाग कर इधर आये थे, पर उनमेंसे १-२ काट डाले गये थे और शेषको कुछ लोगोंने दया करके छिपा लिया था। बलदेवजीके पड़ोसमें एक अँगरेज़ पुरुष और स्त्रीको एक वैश्यने अपने भुस-लकड़ीके कोठेमें छिपा रक्खा था और वह उन्हें मिट्टीके बर्तनोंमें पानी-खाना दिया करता था—अपने बर्तन वह भला म्लेच्छको कैसे छूने देता, पर उन्हीं बर्तनोंके बदले उस वैश्यके वंशधर युग-युगोंतक चाँदीके बर्तनोंमें खाना खाते रहे।

बलदेवबाबा संस्मरणोंकी आत्मामें डूबकर मुझे सुनाया करते थे कि इस विप्लवका संगठन साधुओंने घर-घर घूमकर किया था। ये लोग अपने इकतारे पर जनताको भावी विप्लवका उद्बोधन देनेके लिए जो गीत गाया करते थे, बलदेवजीको अपने बुढ़ापेमें भी वे याद थे।

मैंने अपने जीवनमें मा-बहनोंके लोक-गीतोंके बाद, जो गीत सुने थे, वे यही विप्लवी गीत थे। बलदेवबाबा अपने मधुर कंठसे जब उन्हें गाते, तो हम सब भी रसमें डूब जाते थे। इन गीतोंमें अंगरेज़ों द्वारा धर्मभ्रष्ट किये जाने की बात बार-बार और भिन्न-भिन्न रूपोंमें कही गई थी और म्लेच्छ अँगरेज़ोंको मार भगानेके लिए ललकारा गया था।

ये गीत मुझे बहुत प्रिय थे और जब मैं अक्षर लिखना सीख गया, तो मैंने कई गीत अपनी कापीमें लिखे भी थे, पर उनके महत्त्व और मूल्यका ज्ञान न होनेसे वे नष्ट हो गये। काश, राष्ट्रीय इतिहासके वे हीरे मेरे पास बचे होते! उन गीतोंकी एक ही पंक्ति मुझे याद है—

"तुम रहना हुशियार, लिये दमकला बीर सिपाही आवैंगे ।"

सुनकर मैंने पूछा था—"दमकला क्या बाबा ?" और उन्होंने उत्तर दिया था—"दमकला बन्दूकको कहते हैं भाई !"

जब मैं बड़ा हुआ और साहित्य-कविताको कुछ-कुछ समझने लगा, तबसे बराबर सोचता रहा कि गीत की यह पंक्ति एक टुकड़ा होकर भी महत्त्वहीन नहीं, महत्त्वपूर्ण ही है । इस पंक्तिमें कोई कभी भी अतीतके उन विप्लव गीतोंकी धुन इकतारों पर गूँजती सुन सकता है और इससे भी बढ़कर यह कि इस पंक्तिके सूत्रसे उस महान् विप्लवके संयोजकोंकी संगठन-रूपरेखाका अनुमान भी लगा सकता है ।

यह कैसे ? यह इस प्रकार कि विप्लवगीतकी यह पंक्ति पुकारकार जनतासे साफ-साफ कह रही है कि "विद्रोहकी सब तैयारी हो चुकी, फौजमें आग लग चुकी, वे नेताओंके आदेशकी प्रतीक्षामें हैं और बस ज्वालामुखी फटने ही वाला है, जिसमें फिरंगी और उसका राज्य दोनों भस्म हो जायेंगे । देशके लोगों, तुम हुशियार रहना, उस समय चूक न जाना; विद्रोही सिपाहियोंको तुम्हारा पूरा सहयोग मिले ।"

इस पंक्तिकी यह साक्षी है कि नेताओंने पहले सेनाओंमें संगठन किया, उनमें विद्रोहकी भावना भरी और जब वे तैयार हो गईं, तो विद्रोहकी तारीख तै की गई और उस तारीखपर तैयार रहनेके लिए जनताको आह्वान दिया गया—'तुम रहना हुशियार, लिये दमकला बीर सिपाही आवैंगे ।" उत्सुकता और उत्साह दोनोंको एक साथ निमन्त्रण ! निश्चय ही विप्लव-गीतोंकी यह स्मृति-शेष कड़ी, महल नहीं, तो खण्डहर अवश्य है । और—'खण्डहर बता रहा है, इमारत अज़ीम थी ।'

"बाबा, अंगरेजोंको काटना भूलकर लोग आपसमें लूट-मार क्यों करने लगे ?" मैंने पूछा था बलदेवबाबासे और उन्होंने बताया था—"बेटा, मुलकके भागमें इतना दुख जो भोगना लिखा था !"

वे बताया करते थे कि गदरके बाद पंखीसाहब (एरिया इंचार्ज मि० स्पैंकी) ने गाँव-के-गाँव फूक दिये थे, सैकड़ों आदमियोंको वृक्षोंपर रस्सोंसे लटकाकर फाँसी दे दी थी, चौराहोंपर बहुतसे निर्दोष मनुष्य गोलीसे उड़ा दिये गये थे, मा-बहनें बेइज्जत हुईं थीं, खड़े खेतोंमें आग लगा दी गई थी, खुले बाजारोंमें घोड़े दौड़ाये गये थे—जनताको कुचला गया था और बहुतोंको खुलेआम नंगा करके कोड़ेसे पीटा गया था। बलदेवबाबाके मनमें अपने अन्तिम दिनोंतक इन दुखोंकी याद ताज़े घावकी तरह हरी थी, क्योंकि उन्होंने यह सब अपनी आँखोंसे देखा था।

दुखकी इस अनुभूतिने बलदेवबाबाको दुखियोंका मित्र बना दिया था और उनके लिए वे सदा सेवाको तैयार रहते थे। घरके लिए बाज़ारसे लाते समय पड़ोसन बुढ़ियाको थोड़ी-सी सब्ज़ी चोरी-चोरी दे देना, टालसे लाते समय किसीकी दहलीज़में चुपचाप दो लकड़ियाँ डाल देना, तो उनका रोज़का काम था, पर एकबार वे हमारे घर भोजन न करके अपना भोजन मासे देरमें खानेका बहाना बना अपने घर ले गये थे और वहाँ उन्होंने वह पड़ोसके एक बीमारको दे दिया था। स्वयं वे भूखे रह गये थे, यह देखकर मैंने उनके लिए घरसे कुछ लानेकी ज़िदकी थी, तो बड़े लाड़से उन्होंने मुझे समझाया था कि आज उनके पेटमें दर्द है, इसीलिए उन्होंने खाना नहीं खाया। उनके दर्दको मैंने बड़ा होकर ही समझा था और भाव-विभोर होकर सोचा था कि कितनी पवित्र थी उनकी वह चोरी और कितना बड़ा सत्य था उनका वह झूठ! सन्तोष उनका चरित्र था, हरहाल मगन उनका स्वभाव था, सहयोग-सहायता उनका संस्कार था। जीवनकी कितनी बड़ी बात कि कोई भी उनका अपना न था, पर वे सबके अपने थे—प्रतिक्रियासे मुक्त और सबके लिए सदा प्रस्तुत!

भाई ललिता प्रसाद 'अख़्तर'

"वाह साहब, ख़ूब लिखा है अख्तर साहबने !" १९२६-२७ की बात है। मैं अपने नगरके भ्रातृ-मण्डल-पुस्तकालयके भीतरी कमरेमें बैठा कुछ पढ़ रहा था कि बाहरके बरामदेसे उमंग भरी एक आवाज़ आई—"वाह साहब, ख़ूब लिखा है अख्तर साहब ने !"

मैं उठकर बाहर आया, तो देखा कि कुछ लोग सिर धुन-धुन कर उर्दूका एक अखबार पढ़ रहे हैं। पूछा—जाना कि सहारनपुरके किसी मशायरेका सारांश छपा है इस पत्रमें और उसीमें अख्तर सहारनपुरीका भी यह शेर है—

सीनेसे जान निकली,
वो आँखसे न निकला,
बीमारे ग़मका आँसू,
किस दर्जे बाहया था।

सुनकर तबीयत फड़क उठी, पर कृतिके साथ कृतिकारका परिचय मेरा स्वभाव है, तो प्रश्न उठा कि यह अख्तर सहारनपुरी है कौन, और जाग उठी दीदारकी हसरत, दिलमें हसरत जाग उठी।

लम्बा कद, छरहरा बदन, कानोंमें सोनेकी लौंगें, चन्दन-चर्चित उन्नत ललाट, मन्द मलयानिलके झोंके-सा अपनेमें डूबा भाव, मधुर भीना स्वर और सौजन्यसे ओत-प्रोत बातचीत; पंसारी बाजार, सहारनपुर (अब ललिता प्रसाद अख्तर रोड) की एक छोटी-सी कुठरियामें ललिता जी के पहली बार दर्शन हुए।

तब वे अपना उर्दू साप्ताहिक 'परिवर्तन' चला रहे थे और यह कुठरिया ही उसका दफ्तर थी। कुठरिया छोटी भी, अस्त-व्यस्त भी;

अखबारों-कागजोंकी ढेरियोंको सरकाकर, उन्होंने मुझे बैठाया, तो मैं अधरमें लटक गया। उनके व्यक्तित्वकी सरल मिठासका जो पहला प्रभाव देखते ही मुझ पर पड़ा था, वह इस अव्यवस्थाकी धूलमें कुछ दब-सा गया, पर तभी हँसकर अपनेमें तल्लीन, झूमकर उन्होंने कहा—"आज तो एडीटर-इनचीफका यही आफिस है और आपको भी यहीं घुटी-सी जगहमें बैठना पड़ रहा है, पर जब परिवर्तन-बिल्डिंग बनेगी, तो उसमें मित्रोंके लिए अलग स्थान होगा और प्रेस एवं पत्र-विभागके सब कर्मचारी भी एक परिवारकी तरह साथ रहा करेंगे।"

यह एक कल्पना थी, स्वप्न ही तो था, पर इसने मेरे भावनाशील मन पर उनकी एक ऐसी तस्वीर उतार दी, जिसे समयका प्रवाह कभी धुँधली नहीं कर पाया। सचमुच वे स्वप्नदर्शी थे, बहुत ऊँचे स्वप्नदर्शी—दिवा स्वप्नदर्शी और स्वप्नोंको साकार करनेकी क्षमता भी उनमें असाधारण थी, पर वे साधनहीन थे। फिर वह युग कि खड़े होनेमें ही इतनी शक्ति लग जाती थी कि आगे बढ़ना कठिन हो जाता था।

'परिवर्तन' से भी पहले उन्होंने अपने क्षेत्रकी शक्तियोंको संगठित कर, उसे अपने प्रान्तमें एक प्रमुख शक्तिके रूपमें लानेका स्वप्न देखा था और अपने फुलवारी आश्रमको उसका प्रतीक बनाया था। सच है कि उनके स्वप्न सिद्धिके सिंहासन नहीं चढ़े, पर इतना माननेमें किसे मतभेद होगा कि अपने क्षेत्रकी सोती तरुणाईको जाग्रतिकी पहली हाँक उन्होंने ही लगाई थी।

उनके भीतर एक आग थी और उस आगको दूसरोंके दिलोंमें लगाना भी वे खूब जानते थे। उनकी संगठनशक्ति गहरी थी, उनके घेरेका पुश्ता मजबूत होता था और घरोंके दड़बोंसे होनहार नवयुवकोंको खींचकर सार्वजनिक जीवनके उस घेरेमें लाना भी वे खूब जानते थे। सरलता और सादगी उनके जीवनकी सबसे बड़ी विशेषताएँ थीं, पर वे अत्यन्त कामयाब षड्यन्त्रकारी थे।

निजी जीवनमें मिलनसार और मधुर होते भी, सार्वजनिक जीवनमें वे ज्वालामुखी थे। राजनैतिक जीवनमें उन्हें सोच-समझकर धीरे-धीरेकी नीति पसन्द न थी। शेरकी तरह एक झपाटेमें दुश्मनका तख्ता उलट देनेकी वृत्ति ही उनमें थी। वे गदकाफरी—पटेबाज़ीके शानदार खिलाड़ी थे। चोट खाना जानते थे, चोट करना जानते थे, झपाटा ही उनका नम्बर एक दाव था।

प्लेटफार्मके वे राजा थे। जब बोलते, तो खयालात और जज़्बात-विचारों और भावनाओं—की लड़ियाँ बाँध देते, कड़ियाँ पिरों डालते, सुनने वालोंकी रुह खींच लेते, उन्हें बेख़ुद बना देते। कई बार मैंने देखा कि अङ्गरेज सरकारका सी० आई० डी० अपनी कलम थाम कर, भाषणकी रिपोर्टिंगका काम भूल कर उनका भाषण सुनता रहता था।

जन-सम्पर्ककी कलाके वे पण्डित थे, दूसरोंको अपना बनाना ही नहीं, वे मोहना जानते थे। उनका दिमाग उपजाऊ था, बुद्धि कल्पनाशील थी। वे आन्दोलनकी नई धाराका सृजन कर सकते थे, उस धाराको आगे बढ़ानेके लिए साथियोंकी खोज कर सकते थे, अपनी अथक कर्मठतासे उसमें नया जीवन डाल सकते थे और उसे लोकप्रिय बना सकते थे, पर उनका मनोविकास एक खास दिशामें ही हुआ था; बस वे उस धाराको अन्त तक सफलतापूर्वक न ले जा पाते थे। उनकी आर्थिक साधन-हीनता और स्वभावगत अस्त-व्यस्तता ही उसका कारण थी और उनके नेतृत्वमें यही एक छेद था, यहीं वे अधूरे थे।

उनकी अस्त-व्यस्तता उनके अल्हड़पनकी छाया थी। जीवनमें ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि वे घरसे सामान लेकर जिस गाड़ीके लिए चले हैं, उसी पर सवार हुए हों। नहीं तो प्रथा यह थी कि सामानके साथ सुबह ७ बजे वे घरसे निकले हैं और दोपहरको १२ बजे उसी कुलीके साथ लौट आये हैं।

"क्यों, क्या बात हुई?" किसीने पूछ लिया, तो उत्तर था—"घरसे निकला, तो रामलीलाके मंत्री मिल गये। बस उनसे इस विषय पर बातें होती रहीं कि इस बार रामलीलामें क्या-क्या सुधार हों और गाड़ीका ध्यान ही न रहा।" यह उत्तर वे इस सादगीसे देते थे कि जैसे यह कोई मामूली बात हो और सचमुच यह मामूली बात ही थी; क्योंकि कई बार यह भी होता था कि वे शामको बिना सामानके लौटते थे और उनके अनुज भाई मदनगोपालको स्वयं जाकर किसी मित्रके घरसे सामान लाना पड़ता था।

सचमुच वे अलमस्त जीव थे। उनकी अलमस्तीका गहरा विश्लेषण यों न्यायपूर्ण होगा कि वे आन्दोलनकारी थे, आर्कीटेक्ट नहीं; मित्र पहले थे, नेता बादमें—शायद यों कि उनके नेतृत्वकी पृष्ठभूमि मित्रता ही थी और तभी वे बहुत कुछ होकर भी असलमें स्वयंसेवक थे!

अपने प्रति दूसरोंके मनमें जो प्रभाव वे परिचयकी पहली छलांगमें जमाते थे, वह खण्डित न होता था। इसका एक कारण राजनैतिक था और दूसरा नैतिक। सार्वजनिक जीवन उनका व्यापार नहीं था, शौक भी नहीं था, देशकी बेकसी और गुलामी उनके दिलमें बुरी तरह खटकती थी और अपने एकान्तमें उनके साथ जेलमें रहते समय मैंने कई बार देखा कि भारत माताके ध्यानमें उनकी पलकें भीग जाया करती थीं, देशके लिए अपनेको बलिदान करनेकी भूख उनमें गहरी थी। उनके राजनैतिक प्रभावका यही रहस्य था।

दुखियोंका दुख उन्हें बहुत गहराइयोंमें प्रभावित करता था। दुखियोंकी सेवामें वे सदा सुख पाते थे। अपने प्रति घोर लापरवाह होकर भी, दूसरोंकी खबर लेने, उन्हें आराम पहुँचाने, उनके दुखका भागीदार होनेमें वे सदा रस लेते थे—उनकी सहृदयता गहरी थी, सेवा हार्दिकथी—

"बेकस कोई मरे, तो जले हाय दिल मेरा!
गोया ये है चिराग़ ग़रीबों के ग़ोर का!!"

वाकई वे ग़रीबोंके ग़ोरका चिराग़ थे और उनके नैतिक प्रभावका यही रहस्य था। दूसरे शब्दोंमें उनके प्रभावका रहस्य उनकी बुद्धिमें नहीं, उनके हृदयमें था। एक विचित्र बात यह कि उनकी बुद्धि उनके पास रहती ही न थी—वे उसे एक मज़बूत बक्समें बन्द रखते थे। इस बक्सका नाम था—हकीम पन्नालाल। ये उनके बड़े भाई थे और इस ख़ूबीके साथ कि हम·सब सैंकड़ोंके भी बड़े भाई थे। जैसे कछुवा अपनेको अपने ही खोलमें समाये रहता है, इसी तरह वे भी अपनेको अपनी दूकानदारीके खोलमें समाये रखते थे।

भाई साहब सूझोंके बादशाह थे। परिस्थितियोंको बहुत दूरसे भाँप लेते थे। उनके अन्तरमें एक तीसरी आँख थी, जिससे वे जान लेते थे कि विरोधी क्या दाव चलेगा और यह सब वे अपने ललिताके कानमें कह देते थे—उस दावकी काट भी बता देते थे। ललिता जी उस दाव को मांजते थे, रवाँ करते थे, तैयार रहते थे, समय पर जड़ देते थे और वातावरणको हाथमें ले लेते थे।

यह जोड़ी कितनी पवित्र थी कि मालाएँ पहन कर ललिताजी अपने भाई साहबके पैर छूना नहीं भूलते थे और भाई साहब उन मालाओंको ललिताजीके नहीं, अपने ही गलेमें पड़ी मानते थे। जनता देखकर नहीं, सूँघकर सत्यको पहचानती है, तो उसने ललितामें पन्नाको और पन्नामें ललिताको भाँप लिया था, आँक लिया था और उसके लिए अब न ललिता प्रसाद थे, न पन्नालाल थे; जो कुछ थे 'ललिता-पन्ना' थे। विचित्र बात कि पन्ना-ललिता नहीं, ललिता-पन्ना ही। जनताके लिए डायरेक्टर और एक्टरके कर्म-क्षेत्र की शायद यही सीमा है!

१६२० की हिन्दू-मुस्लिम एकताके प्रभावको जड़ तक मिटानेके लिए अँग्रेज़ राजनीतिने एक योजना बनाई और १६२४ से हिन्दू-मुस्लिम दंगों का अध्याय आरम्भ हुआ। कोहाटके बाद सहारनपुरमें पहला बड़ा दंगा

हुआ। दिनमें दो बजे शहरमें सन् सत्तावन मच गया। एक तरफ संगठित गुण्डागर्दी, आँख बचाने वाली पुलिस और दूसरी तरफ एक भयभीत वर्ग; शैतान खुल खेला, पर कुछ लोग होश सँभाले रहे, योजनापूर्वक सहारा दिये रहे।

यह होश इतनी सँभली हुई थी कि चार बजे, भयंकर दंगेके बीच, पूरे काँडका एक विवरणात्मक तार 'हिन्दुस्तान टाइम्स' को चला गया। ६ बजे उपद्रवके ब्रह्मा जिलाधीश हबीबुल्लाको इस तारकी खबर मिली, तो खबरों पर उसने सैंसर बैठा दिया, पर सात बजे आठ मील दूरके एक उपनगरसे दूसरा पूरक तार गया और आठ बजे तीसग तीसरे तारघरसे!

त्रासकारी विध्वंसके बाद उपद्रव रातमें शान्त हो गया, पर दूसरे दिन सुबह-सुबह 'हिन्दुस्तान टाइम्स' अपने पहले पेज पर दंगेका विवरण और एक करोड़के नुकसानकी हेड लाइन लिये आया, तो शासनका मुँह काला पड़ गया। सहारनपुर पर अब देशकी निगाह थी। मालवीय जी भी पधारे और कांग्रेस-शिष्ट-मण्डल भी, जिसकी अध्यक्षा थीं श्रीमती सरोजिनीनायडू। यह सब ललिता-पन्ना और उनके साथियोंका काम था।

निर्माणवृत्ति और निर्माणशक्ति दोनोंसे भरपूर थे ललिता जी। १९३० में जब वे पहली बार जेल गये, तो उनसे पहले अनेक बड़े जेल जा चुके थे, पर उनके जानेके दूसरे दिन ही जेल साबरमती आश्रम हो गई—नियमित रूपसे वहाँ शामकी प्रार्थना होने लगी। उसी दिन उन्होंने कुछ पंक्तियाँ रचीं और रामधुन और सन्तवाणीके बाद उन्हें फिट करके प्रार्थनामें धर्मकी शान्ति और राजनीतिकी क्रान्तिका संगम कर दिया। उनकी अन्तिम पंक्ति मुझे आज भी याद है—"ललित काट दासत्वके बन्धन देश स्वतन्त्र करायें।"

लो, यह उनके अन्तरका पूरा चित्र ही अनायास उतर आया—धर्म की शान्ति और राजनीतिकी क्रान्तिका संगम ही ललिता प्रसाद थे। वे

पूजापाठी हिन्दू और विप्लवी योद्धा एक समान थे—धर्म और देश दोनोंके प्रति एक साथ सौ फीसदी वफादार ! जाने वे प्रतिदिन किस-किस स्तोत्रका पाठ और किस-किस मन्त्रका जाप नियमसे किया करते थे। यह नियम फौलादका रस्सा था कि वे टूट गए, यह कभी नहीं टूटा। जेलमें कभी-कभी देर तक वे हम लोगोंसे बातें करते रहते और ज्यों ही बात समाप्त होती कि उनका 'जय हनुमान् ज्ञान गुण सागर' आरम्भ हो जाता—कितनी भीनी और प्यारी गुनगुनाहट थी उनकी ? हम सो जाते और एक छोटी नींद लेकर कभी आँख खुल जाती, तो देखते कि वे बैठे उँगलियोंपर माला फेर रहे हैं।

ऐसा आदमी अक्सर कठमुल्ला हो जाता है, पर कठमुल्ला ? वे कट्टर भी न थे, रूढ़िवादी या संकीर्ण भी न थे। पूजा और नमाज़, मन्दिर और मस्जिद, दोनों उनके अपने थे, हरिजनोंके वे बन्धु थे, मुसलमानोंमें उनके गहरे दोस्तोंकी संख्या अनगिन थी। बाहर भीतरसे उन्मुक्त वे एक उदार मानव थे। पीड़ाकी पुकार उनके लिए प्रेयसीकी पुकार थी।

कहा तो, वे जन्म-जात स्वयं सेवक थे। १४ वर्षकी उम्रमें उन्होंने हिन्दू कुमार सभाकी स्थापना की और उसी वर्ष अपनी पहली राष्ट्रीय कविता लिखी 'मेरी माताओं चरखा चला लो'। २० वर्षकी उम्रमें बेगार बन्दीके सफल आन्दोलनमें प्रमुख भाग लिया और उसके दूसरे साल गूंगा चौहान नाटक लिखा-खेला। साहित्यमें कविता उनका शौक थी—इठलाकर लिखते, तो इतरा कर–झूमकर पढ़ते, पत्रकारिता उनके राजनैतिक युद्धका अस्त्र थी–भभककर अपना सम्पादकीय लिखते, तो तमक कर पढ़ते, पर नाटक उनकी साध थी। १९२८ में वे पण्डित नारायण प्रसाद 'बेताब'के शिष्य हुए और कलकत्तेमें उनसे शिक्षा ग्रहण की। उनके साथ ही उन्होंने रनजीत फिल्म कम्पनी बम्बईमें नाटककी फिल्मकलाका अध्ययन किया और तब उनकी तीन रचनाएँ फिल्म बनीं—जौहरे शमशीर, पंजाबका सिंह और रंगीला राजपूत।

बम्बईमें उन्होंने रात दिन परिश्रम किया। दिन भर अपने काममें जुटे रहते, पर शामको थककर चूर होने पर भी गुरूजीके पैर दबाने घरसे कई मील जाते और उन्हें सुलाकर रातमें ११ बजे पैदल लौटते। इस थकान ने उनकी हड्डियोंको जर्जर कर दिया और पड़े तो बस पड़े ही।

बीसवीं सदीकी उम्र थी ३७ साल, तो उनकी सिर्फ ३६ !! अन्तिम बार उनसे मिला, तो वह उनके जीवनकी अन्तिम संध्या थी—ओह एक दम कंकाल हो गये थे वे, फिर भी मिलनमें चाव था, बातोंमें भाव था, इरादोंमें हिम्मत थी, ख्यालमें शिद्दत थी, किस्मत अपना फैसला लिख चुकी थी, वे उसे पढ़ चुके थे सबकी उमीदें सो गईं थीं, पर उनमें कहीं भी ना-उमीदी की तड़फन न थी, अवसाद न था।

कहूँ—नाशकी अव्यवस्था न थी, विदाईकी व्यवस्था थी। वे अदासे जिये थे, करीनेसे जा रहे थे। पूरा वातावरण इस हद तक उनकी मुट्ठीमें था कि कोई भी मित्र न मुँह लटका सकता था, न पतला बोल बोल सकता था।

यकीन कीजिए, सब कुछ नार्मल था। हाय रे, चाय भी आई थी, हमने पी थी, पान भी आये थे, खाये थे—खाने पड़े थे। बीचमें एक बार वे पेशाबके लिए नाली तक सरके थे, एक बार शौचके लिए। दोनों बार उन्होंने हाथ धोये थे, पैर धोये थे और सदाकी भाँति सिर पर छींटे दिये थे, खुद हाथ पैर पोंछे थे।

उन्हें अनेक रूपोंमें देखा था, पर उस दिन तो वे स्थितप्रज्ञ ही हो रहे थे—अपनेमें स्थित, अपनेमें स्थिर। मैंने अपने पूरे जीवनमें, कभी किसी कंकालमें इतना सौन्दर्य, इतनी ताज़गी, इतनी व्यवस्था, इतनी कोमलता और इतनी मधुरता नहीं देखी !

वातावरण इतना सरल, सरस, सजीव था कि उठते-उठते एक मित्र कह बैठे—"लो, अब कुछ सुना दो ललिता जी, तो चलें !" कईने उन

मित्रको कड़वी आँखोंसे घूरा था, पर ललिताजीके गलेमें गुनगुनाहट आ गई थी, सब स्तब्ध-शान्त हो गये थे और तब उन्होंने यह शेर कहा था—

बहुत बलन्द हैं नग़मों से नाला हाए फ़िराक़ !
वो साज़ पर ये रगे जाँ पे गाये जाते हैं !!

उसी रातमें वे चले गये और मैं सोचता रहा—भाई ललिताप्रसाद 'अख़्तर' सचमुच हमारे सार्वजनिक जीवनका एक अख़्तर—नक्षत्र ही था, जो अपने जीवनकी सबसे बड़ी धुन—देशकी आज़ादीका सूर्योदय होनेसे पहले ही छिप गया। उसकी वह अल्हड़ हँसी, उसकी वह झूमती-सी चाल, उसकी वे मस्ती भरी बातें, उसके वे आसमानी मनसूबे और उसके वे मदभरे तराने, उसके साथ चले गये और उसकी हूक भरी याद रह गई; जाते-जाते जैसे वह सबसे कह गया—"मैं वो रोने वाला चला हूँ जहाँसे जिसे अब हर साल रोता रहेगा।"

सुल्हड़ मिश्र

"अरे सुल्हड़, ले उपला, जरासी आग तो लेआ !"

मा की आज्ञा उसके लिए वेदवाक्य थी, उपला लेकर वह आग लेने निकल पड़ा, पर घरके द्वारसे निकलते-न-निकलते उसकी विचार-धारा आग और उपलेसे हटकर किसी दूसरी ओर बदल गई। उसके पैर अपना काम करते रहे और मस्तिष्क अपना, पर दोनोंमें इस समय कोई सामंजस्य न था। पैरोंका काम चलना है, दिशाका निर्णय नहीं; यह काम मस्तिष्कका है, पर मस्तिष्क उस समय अपनी ही धुनमें था। प्रायः चार घण्टे तक मस्तिष्क अपनी धुनमें रहा और जब उसकी यह धुन टूटी, तो उसने देखा कि सुल्हड़ मिश्र अपने घरसे आठ कोस दूर मंगलोर पहुँच गये हैं।

दोपहर हो गई थी, भूखका समय था। इस नगरमें सुल्हड़ मिश्रके एक यजमान थे, वे हाथमें उपला सँभाले उनके घर पहुँचे। यजमान पुरोहितके दर्शन कर बहुत प्रसन्न हुआ। बात यह हुई कि उस दिन सोमवती अमावस्या थी। श्रद्धालु यजमानने उस दिन एक गाय दान की थी और वह उसे किसी मजदूरके द्वारा पुरोहितजी के घर भेजनेका प्रबन्ध सोच रहा था।

पुरोहितजी ने यजमानके घर भोजन किया और अपनी गाय-बछिया लेकर लौट पड़े। जिस राह लौटे, उसमें नदी पड़ी, पुरोहितजी सिर्फ एक धोती पहने थे। भीगनेके भयसे उसे निकाल कर आपने अपने सिर पर लपेट लिया और बछियाको कन्धे पर ले, नदी पार की, पर नदी पार करते-न-करते आपकी विचार-धारा फिर किसी ओर जा भिड़ी और फलतः नदी पार कर आप बछियाको कन्धेसे उतारना और धोती पहनना, दोनों काम भूल गये और उसी रूपमें अपने घर पहुँचे !

रास्तेमें मज़ाकमें लोगोंने पूछा—"मिश्रजी! नीचे क्या है?" पर आप अपने ध्यानमें थे। बोले—"गायके नीचे बछिया है!"

माने देखा उसका आज्ञापालक पुत्र, जो प्रातःकाल आग लेने गया था, शामको गाय और बछिया लिये नंगाभूत बना उसके आँगनमें खड़ा है। उसके इस पागलपन पर खीज कर माने जरा तेज़ीके स्वरमें कहा—"अरे, तुझे यों नंगा होते शर्म नहीं लगी!" अब आपको अपने रूपका ध्यान हुआ। बाहरकी ओर उसी रूपमें लौटते-लौटते आपने कहा—"ओह मा मैं नदी पर धोती भूल आया हूँ, अभी लाता हूँ!"

"और सिर पर क्या बन्धा है?" मिश्रजीने सिरसे उतार कर धोती पहनी और तब पूरा किस्सा माको सुनाया। माके हृदयका वात्सल्य भर्त्सनाकी झिड़कियोंके रूपमें अपने इस युवक दार्शनिक पुत्र पर बरस पड़ा, पर यह बात पुत्रके लिए कोई नयी तो न थी!

इस अलबेले दार्शनिकका जन्म सहारनपुर जिलेके देवबन्द नामक प्रसिद्ध कस्बेमें हुआ था। जन्मकी तिथिका बता सकना तो असम्भव है, पर इतना निश्चित है कि उस समय सम्राट् अकबर दिल्लीके सिंहासन पर आसीन थे।

सुल्हड़ मिश्र संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे, जीवन भर वे ब्रह्मचारी रहे और उन्होंने अपनी इस 'दार्शनिकता' से अपने आस-पासके वातावरणको सदा हास्यमय रखा। उन्हें मरे शताब्दियाँ गुज़र गईं, पर अपने मधुर संस्मरणोंके रूपमें देवबन्द और उसके आस-पासके देहातमें वे आज भी जीवित हैं और बूढ़े बाबा आज भी रातके समय उनकी कहानी अपने बच्चोंको सुनाया करते हैं।

वे जब तक जिये अपने नगरके सरदार रहे और सारी समस्याएँ अपनी तीक्ष्ण-प्रतिभा और तुरन्त-बुद्धिके द्वारा सुलझाते रहे। नगरमें

कोई बात आती, लोग दौड़कर उनके पास आते और यह नामुमकिन था कि वहाँ उसका हल न होता। वे अपने नगरके लालबुझक्कड़ थे!

देवबन्दमें देवीकुण्ड पर काशीके विद्वानोंका एक दल आकर ठहरा। विद्या-व्यसनका युग था—शास्त्रार्थमें विजय ही उन दिनों पाण्डित्यकी कसौटी थी। आगत-विद्वानोंने शास्त्रार्थका निमंत्रण दिया। देवबन्द अपने विद्वानोंके लिए उस दिन प्रसिद्ध था। अनेक पण्डित शास्त्रार्थके लिए वहाँ पहुँचे, पर पराजित होकर लौटे। काशीका एक विद्वान् ऐसा भयंकर तार्किक था कि कोई जम ही न सका। नगरका सम्मान खतरेमें पड़ने लगा—विद्वन्मण्डलीमें चिन्ता छा गई। इकट्ठे होकर लोग नगरके सर्वे-सर्वा पण्डित सुल्हड़ मिश्रके घर पहुँचे। पूरा समाचार सुनकर आपने दूसरे दिन शास्त्रार्थके लिए चलना स्वीकार कर लिया।

इसकी सूचना उन पण्डितोंके पास भेज दी गई और लिख दिया गया कि कल श्री सुल्हड़ मिश्रसे आपका शास्त्रार्थ होगा। वे नगरके गुरु हैं और यदि आपने उन्हें पराजित कर दिया, तो नगर-विजयका प्रमाण-पत्र आपको दे दिया जायेगा। काशीके पण्डित बड़े प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन दोपहर बाद सुल्हड़ मिश्र 'बड़ा धोता बड़ा पोथा, पण्डताः पगड़ा बड़ा' का साक्षात् उदाहरण बनकर देवीकुण्ड पहुँचे। प्रायः चार सौ विद्वान् उनके पीछे थे और हजारों नागरिक दर्शक भी। संस्कृतमें कुशल-मंगलकी बातें होने लगीं। बीचमें सुल्हड़ मिश्रने एक वाक्य कहा—"प्रचलत्यद्य हवा"—आज हवा बहुत चल रही है। काशीके पण्डितने 'हवा' के प्रयोग पर आपत्ति की; क्योंकि यह संस्कृत शब्द नहीं है। मिश्र जीने इसे शुद्ध संस्कृत शब्द बताया, पर काशीका पण्डित इससे सहमत नहीं हुआ। विवादको शान्त करनेकी मुद्रामें मिश्रजी ने कहा—"अच्छा जाने दीजिए इसे; आप 'गणानां त्वा' मन्त्र सुनाइए।"

पण्डितजीने तन्मयताके साथ उच्च स्वरमें पढ़ना शुरू किया—"ॐ

बलिदान होगा। इसलिए जो भाई लड़ने-मरनेको तैयार हों, वे तलवार लेकर चलें और अगर कोई तैयार न हो, तो मैं अपनी माको एक गठरीमें बाँध कर ले जाऊँगा और इकला ही यह काम करूँगा।"

हिन्दू इस टैक्ससे दुखी थे, पर इस प्रकार उसका विरोध करना साहस का काम था, क्योंकि देवबन्द मुगलोंकी एक छोटी-सी छावनी थी। लोगोंने सुल्हड़ मिश्रको बहुत समझाया और "वैध उपायों" का आश्रय लेनेकी सलाह दी, पर वे अपनी बात पर अटल रहे।

अन्तमें २०० चुने हुए ब्राह्मण अपनी-अपनी तलवारें लेकर साथ चले। चिता जोड़ते ही मुगल सिपाहीने टैक्स माँगा, पर सुल्हड़ मिश्रके एक ही वारसे उसका सर धड़से अलग हो, खेलने लगा। दूसरे सिपाहीने दौड़ कर छावनीमें खबर दी। सूबेदारने ६० फौजी सिपाहियोंका एक जत्था इन लोगोंको गिरफ्तार करनेके लिए भेजा, जो कि इन्हें 'असौजिये आम' के पास मैदानमें मिला। संक्षिप्त-सी बातचीतके बाद तलवारें म्यानों से निकलीं और चमक उठीं। फौजी सिपाही सधे हुए थे, पर इधर भी मर मिटनेवाले ब्राह्मण थे, फलतः घण्टे-डेढ़ घण्टेकी झपटमें उन सिपाहियों को सदाके लिए सोना पड़ा। तब और सिपाही आये और उनका भी यही हाल हुआ।

दूसरे दिन प्रातः लोगोंने देखा कि सुल्हड़ मिश्र लापता हैं। शहरमें उनकी कायरताकी निन्दा होने लगी, पर वे उस समय दिल्लीके पथ पर दौड़े जा रहे थे। जिस समय वे दिल्ली पहुँचे सौभाग्यवश सम्राट् अकबरकी सवारी निकल रही थी। कूद कर वे हाथीके सामने खड़े हो गये। सिपाही ने उन्हें हटाना चाहा, पर वे अड़ गये। सम्राट्का आदेश हुआ—कल दरबारमें हाजिर हो। दूसरे दिन दरबार पहुँच कर आपने इस अन्यायपूर्ण टैक्सकी बात सुनाई। सम्राटने उसे उठानेका आदेश दिया और सूबेदारके नाम एक परवाना लिख कर उन्हें दे दिया गया।

मोहर-दस्तखतका परवाना लेकर दौड़े-दौड़े आप देवबन्द आये। सारे शहरमें खुशी छा गई और लोगोंने सुल्हड़ मिश्रको हाथोंहाथ उठा लिया। सूबेदारकी रिपोर्ट भी बादमें दिल्ली पहुँची, पर सम्राट्ने ब्राह्मणोंके इस विप्लवको 'स्वाभाविक' कहकर टाल दिया; टैक्स हटानेका आदेश तो वे सुल्हड़ मिश्रके हाथों भेज ही चुके थे।

मुगल साम्राज्यके कागज़ातमें यह परवाना है, या नहीं, इसे तो खोजी विद्वान् ही देख सकते हैं, पर देवीकुण्डके मैदानमें बनी मुगल सिपाहियोंकी सैकड़ों कब्रें आज भी सुल्हड़ मिश्र और उनके साथियोंकी बहादुरीके गीत गा रही हैं। वे आज़ नहीं हैं, पर देवीकुण्डका स्मशान उनका अमर स्मारक है, जो रोज़ किसी न किसीको जीवन-कथा पर इति लिखकर भी उनकी यशोगाथाका अन्त नहीं कर पाता!

पंडित उमरावसिंह स्वर्गीय

दिल्लीके बादशाहने एक दिन अपने वज़ीर आज़मसे कहा—"मुझे अपने निजी कामोंके लिए एक आदमीकी ज़रूरत है। कोई मिले, तो मुझे कहना, पर शर्त यह है कि वह आदमी हो।"

वज़ीर आज़मने कहा—"बहुत अच्छा" और वे आदमीकी तलाशमें लगे रहे। बहुत दिनोंके बाद उन्हें अपने दफ्तरका एक आदमी जँचा, जो एक अच्छे वेतनपर वहाँ काम करता था। उन्होंने उसकी वह नौकरी छुड़ा दी और उसे बादशाहके सामने पेश किया—"हुजूर, यह है वो आदमी!"

अनजानसे बादशाहने कहा—"कौन आदमी?"

वज़ीरआज़मने कहा—"जहाँपनाह, आपने कई महीने हुए कहा था कि आपको एक आदमीकी ज़रूरत है, पर शर्त यह है कि वह आदमी हो। मैं तभीसे इसकी खोजमें लगा रहा। बड़ी मुश्किलसे मुझे मिला है यह, तो आपके हुजूरमें इसे लाया हूँ।"

कुछ सोचते-से बादशाहने कहा—"हाँ कहा तो था शायद, पर अब तो हमें किसी आदमीकी ज़रूरत नहीं है।" और तब कुछ देर एक मामलेकी मिसिल पर आखें गड़ाये रखनेके बाद उन्होंने उस युवककी ओर देखा। वह शान्त भावसे अपनी जगह खड़ा था। बादशाहने उससे कहा—"हमारे पास कोई अच्छी जगह नहीं है। हाँ, हमारे पुस्तकालयमें एक चपरासीकी जगह है, तुम चाहो तो हम तुम्हें वह दे सकते हैं।"

"मुझे मंजूर है जहाँपनाह!" और उसने बादशाहको धन्यवादका प्रणाम किया। बादशाहने उधर ध्यान न दे, उससे कहा—"लेकिन उस कामकी तनख्वाह सिर्फ दो रुपये महीना है।

युवकने कहा—"जहाँपनाह, आपकी सेवामें रहनेका सौभाग्य ही मेरे लिए दुनियाकी सबसे बड़ी तनख्वाह है।"

बादशाहने वज़ीरआज़मकी ओर देखकर कहा—"अब तुम लाये हो, तो हम इसे रख ही लेते हैं। जाओ, इसे पुस्तकालय दिखा दो।"

वज़ीरआज़म बेचारा सुन्न—"तुम अच्छे-खासे अफ़सर थे। भूल मेरी हुई कि मैंने तुम्हारी नौकरी छुड़ा दी। खैर, कोई बात नहीं। मैं तुम्हें उससे भी अच्छी नौकरी दे देता, पर यह तुमने क्या किया कि चपरास-गिरीपर ही हाँ कर दी!"

युवकने शान्त भावसे कहा—"आप मेरे हितके लिए ही तो मुझे यहाँ लाये; भला बादशाहकी बात न मानकर मैं आपको छोटा कैसे कर सकता था!" पुस्तकालयमें पहुँचते ही उसने अपना काम सम्भाल लिया और ३-४ दिन लगकर एक-एक पुस्तककी धूल झाड़ दी, उसपर नाम-विषयकी चिट लगा दी और हर चीजको उसकी जगहपर इस तरह सजा दिया कि पुस्तकालय एक गुलदस्ता-सा खिल उठा। अचानक बादशाह पुस्तकालयमें आ निकले, तो खुश हुए। पूछा—"कैसा लगता है यहाँ तुम्हें?"

"जहाँपनाह, ऐसा लगता है कि आपने मेहरबानी करके मुझे संसारके विद्वानों, विचारकों और सन्तोंकी गोष्ठीमें बैठा दिया है।"

उस पुस्तकालयमें एक कोठरी थी। एक दिन युवकने उसे खोला, तो उसमें रद्दी कागज भरे थे, पर इस रद्दीमें वे फटे हुए लिफाफे भी थे, जो दूसरे राजा-बादशाहोंने दिल्लीके बादशाहको लिखे थे। इन लिफाफोंपर सोनेकी कीमती चित्रकारी थी; बहुतोंमें तो जवाहरात तक जड़े थे। युवकने इन सबको एक जौहरीके हाथों बेच दिया और उस धनमें से थोड़ा-सा व्यय करके पुस्तकालयमें क़ीमती फरनीचर और चित्र सजा दिये; बाक़ी धन खजानेमें जमा कर दिया।

बादशाह तक शिकायत पहुँची कि वह युवक खजानेके धनका दुरुपयोग

कर रहा है। बादशाह पुस्तकालय पहुँचे, तो पहले भौंचक हुए, तब भौहें चढ़ो—ये हजारों रुपयोंके क़ीमती चित्र और शानदार फरनीचर; पर रद्दीकी बिक्रीका हाल सुना, तो खुश हुए। बादशाहकी खुशी, जीवनका वरदान-पुस्तकालयसे उसे दरबारमें साथ लाये और वजीरे मालियात-वित्तमंत्री बना दिया।

कलका चपरासी, आजका वज़ीर; बोलनेकी हिम्मत किसीमें नहीं, कलेजे पर साँप बहुतोंके लोट गया और घड़ी जाती रहीं बरसों शिकायतें। एक दिन रातमें दो बजे बादशाह वज़ीरेआज़मके साथ दरबारे खासमें आ बैठे और सेनापतिको हुक्म दिया कि हमारा जो वज़ीर इस वक्त जिस हालतमें हो, उसे उसी हालतमें यहाँ लाया जाये। थोड़ी ही देरमें सब हाजिर और दरबारे खासमें अब एक खास नज़ारा कि कुछ वज़ीर शराबके नशेमें धुत, तो कुछ अपनी रंगीनियोंमें शराबोर और वित्तमंत्री एक चौकी पर बनियान-घुटन्ना पहनें हिसाबकी एक फाइलमें मशगूल।

बादशाहने कहा—"तुम लोग हमेशा इस आदमीकी शिकायतें करते रहे हो। आज मैंने सोचा कि सबकी जाँच एक साथ की जाये और तुम सबको ज्योंका त्यों यहाँ उठवा मँगवाया। अब नतीजा सामने है कि तुम सब फेल हो गये और इकला यही आदमी पास हुआ है।"

अपने वित्त-मंत्रीकी तरफ इज्ज़त भरी आँखोंसे देखकर बादशाहने पूछा—"रातके दो बजे तुम ऐसी कौन-सी जरूरी फाइल देख रहे थे भला?"

वित्तमंत्रीने कहा—"पेशावरसे सरहद्दी इलाकेका जो लगान वसूल होकर आया है, उसके हिसाबमें एक पैसा कम है। रातके ९ बजेसे मैं कागज़ोंको देख रहा हूँ और रकम गिन रहा हूँ, पर वही एक पैसा कम है, हुजूर!"

बादशाहने एक पैसा जेबसे निकाल कर वज़ीरकी चौकी पर फेंका—"लो, पैसा हिसाबमें डाल दो और हिसाब बराबर कर दो।"

पैसा बादशाहको लौटाते हुए वज़ीरने कहा—"जहाँपनाह, आपकी मेहरबानियोंसे इस लायक तो मैं भी हूँ कि पैसा जमा करके हिसाब बराबर कर दूँ, पर इस पैसेके बाबत पेशावरके अफ़सरोंसे पूछताछ न हुई, तो वे समझेंगे कि दिल्लीमें कोई पूछताछ करने वाला नहीं है और सरकार, वे लापरवाह हो जायँगे।" बादशाहने एक बार सबकी तरफ़ देखा, तो सब शर्मिन्दा थे।

मेरे बड़े भाई पण्डित परशुरामजीने आदमीकी यह कहानी मुझे तब सुनाई थी, जब मेरी किशोरी चेतना अपनी पहली अंगड़ाई ले रही थी। इसके बरसों बाद जब वे अपनी बेटीका सम्बन्ध पक्का करके जोधपुरसे लौटे, तो उन्होंने मुझसे कहा—"वो जो मैंने तुम्हें चपरासीसे वजीर बनने वाले आदमीकी बात सुनाई थी, पण्डित उमरावसिंह वैसे ही आदमी हैं। आज वे जोधपुर स्टेटमें ऊँचेसे ऊँचे पद पर हैं, पर यह उन्होंने अपनी योग्यतासे प्राप्त किया है।"

विवाहमें वे आये, तो जिसने भी देखा और जो भी उनसे मिला, वही प्रभावित हुआ। भरा-नाटा शरीर, गौर वर्ण, सिर पर केशरिया जोधपुरी साफा और मीठा व्यवहार; पहली झाँकीमें ही एक प्रभावशाली राजपुरुष ! बादमें कई बार उनसे निकटता हुई और उन्हें जाननेका अवसर मिला। मुजफ्फ़रनगर ज़िलेके एक साधारण क़स्बेमें उनका जन्म एक मध्यम श्रेणी के परिवारमें हुआ था और वे ईंटसे महल हो गये थे, पर अभिमानसे उनका परिचय भी न था। स्वभावकी दृष्टिसे तो वे एक साधु ही थे। सचाई यह कि वे उन विशिष्ट पुरुषोंमें थे, जो अपने जीवन-भवनका निर्माण स्वयं बनाई ईंटोंसे अपने हाथों कर ले जाते हैं।

उन्होंने इस शताब्दीके आरम्भिक वर्षोंमें तब मैट्रिक पास किया, जब मैट्रिक पासकी कुछ क़ीमत थी। यह क़ीमत काफी बढ़ गई थी; क्योंकि वे प्रथम श्रेणीमें आये थे और उन युवकोंमें थे; जिन्होंने सम्भवतः सबसे पहले

टाइपरायटर पर टाइप करना सीखा था। जाने क्या बात हुई कि उन्हें कोई अच्छी नौकरी न मिली और तब वे पीलीभीतमें राजा ललिताप्रसादके स्कूलमें अध्यापक हो गये। वेतन ५० रुपये मासिकसे कम तै हुआ।

प्रसंगवश राजा साहबने एक दिन जाना कि उमरावसिंह टाइप जानते हैं और बस उसी दिन उनकी पहुँच राजा साहबके कमरे तक हो गई— समयकी बात उनके पास उन दिनों टाइपरायटर तो था, टाइपिस्ट नहीं। उमरावसिंह जब तब वहाँ जाते और राजा साहबकी चिट्ठियाँ टाइप करते। राजा साहब सहृदय मनुष्य थे, ये सरस शालीन युवक; राजा साहबने उनकी अतिरिक्त सेवाका पारिश्रमिक जब उन्हें देना चाहा तो वे लेनेको तैयार न हुए। उनका उत्तर था—"राजा साहब, आप मेरी सेवासे प्रसन्न हैं, तो पारिश्रमिक लेनेका आदेश न दें, पर अप्रसन्न हैं, तो मुझे उस सेवासे वंचित करदें।" ४५–५० रुपये मासिकके एक साधारण अध्यापकका यह व्यवहार असाधारण था।

परिचय निकटतामें बदला और निकटता घनिष्ठतामें। राजा साहबने २-४ बार उनकी कठोर परीक्षा ली कि उन्होंने जो गुप्त पत्र टाइप कराये, दूसरोंके द्वारा प्रलोभन दिलाकर भी उनका भेद निकालनेकी चेष्टा की, पर उमरावसिंह पेटके पतले न थे कि बात उगल देते। एक बार तो यह हुआ कि उनके हेडमास्टरने भी एक पत्रका भाव बता देनेको उन पर बेहद ज़ोर डाला, पर उनका उत्तर था—"मैं राजा साहबके विश्वासका आज घात करूँगा तो कल आपके विश्वासकी रक्षा भी न कर पाऊँगा। क्या आप चाहते हैं कि आपका एक सहायक अविश्वसनीय होकर आपके निकट रहे?" इस परीक्षाने उन्हें राजा साहबका एक विश्वसनीय बन्धु बना दिया।

ईडरके राजा प्रतापसिंह राजा ललिताप्रसादके अतिथि हुए और आतिथ्यकी व्यवस्था उमरावसिंहको सौंपी गई। भोजन करते समय राजा प्रतापसिंहने अपनी एक समस्या राजा ललिताप्रसादके सामने रखी कि उन्हें

राजवंशके दो पुरुषोंका एक झगड़ा निपटाना है, पर निर्णय ऐसा हो कि उससे दोनों पक्ष सन्तुष्ट रहें। वह झगड़ा भी उन्होंने सुनाया और उसके सम्भावित हल भी और उन हलोंसे उत्पन्न होने वाले नये मसले भी—"क्या कहूँ, कहीं कोई राह ही दिखाई नहीं देती।"

उमरावसिंहने सब बातें सुनीं, उन पर विचार किया और उसे लगा कि सब मसलोंका हल सम्भव है। रातमें उमरावसिंह अपने कमरेमें मेज पर बैठे और यह कल्पना करके कि मैं महाराज प्रतापसिंह हूँ, उस मुकदमे का फैसला लिखने लगे। रातमें दो बजे तक फैसला लिखा और ५ बजे तक उसे टाइप किया। साथमें पत्र लिखा—"महाराज, आपकी बातें सुनीं और मेरा बचपन देखिए कि आपका फैसला लिखनेकी धृष्टता की। बहुत चाहा कि इसे फाड़ दूँ, पर मूर्खता मेरी कि फाड़ न सका और आपके सामने रख रहा हूँ।" और सुबह लिफाफा महाराजके अर्दलीको दे आये।

महाराज सोकर उठे, तो लिफाफा मिला, पढ़ा, तो उस फैसलेमें सचमुच सब मसलोंका हल है। हे राम, यह बात भला मुझे क्यों नहीं सूझी! लिफाफा उन्होंने ट्रंकमें रख दिया और काममें लग गये। उमरावसिंह की जान नाखूनमें कि जाने अब क्या होगा, पर राजा साहबके चेहरे पर कोई भाव नहीं।

यह आ गया उनके चलनेका दिन—"उमरावसिंह, हम चाहते हैं कि तुम हमारे पास रहो!" महाराजने कहा तो उत्तर मिला—"महाराज, मेरी गति तो राजा साहबके आदेशमें है।" राजा साहबने स्वीकृति दे दी और उमरावसिंह ईडर पहुँच गये। अब वे मैजिस्ट्रेट थे। घर खबर आई, तो बाप रे, मास्टर मैजिस्ट्रेट; हाँ, वे अब मैजिस्ट्रेट ही थे!

ईडर और जोधपुरके राजवंश परस्पर सम्बन्धी और जोधपुर उन दिनों अव्यवस्थित—गवर्नर जनरलने महाराज प्रतापसिंहको जोधपुरका वली नियुक्त कर दिया। ईडरके अनुभवी दीवानको महाराज अपने साथ

जोधपुर ले गये और उमरावसिंह हो गये ईडरके स्थानापन्न दीवान। मास्टरसे मैजिस्ट्रेट हुए थे, मैजिस्ट्रेटसे दीवान हो गये, पर यह सामने है एक धर्म संकट कि महाराजका उत्तराधिकारी उनसे कुछ अनियमित कार्य कराना चाहता है, पर यह उनके लिए कहाँ सम्भव! पूरा विवरण उन्होंने महाराजको भेज दिया और बस ईडरके दीवान अपनी जगह लौट आये। अब वे जोधपुरमें महाराजके निजी सचिव! कुछ दिन आरामसे बीते कि यह क्या हुआ? महीना पूरा हुआ, पर वेतन नहीं मिला। परम्परा यह थी कि पहली तारीखको अधिकारी उनके घर ही वेतनके रुपये दे जाता था, पर इस मास वह आया ही नहीं। मास बीता, दूसरा आया, तब तीसरा, पर वेतन देनेवाले वेतन देना भूल गये या लानेवाला ही राह भूल गया?

माने कहा—"उमराव, यों कब तक चलेगा भाई! तू महाराजसे पूछ तो कि यह क्या बात है? वेतन क्यों नहीं मिलता?"

"मा, जो काम वे बताते हैं करता हूँ और यही मेरी सीमा है। वेतन भेजना उनका काम है। भला उनका काम करनेको मैं उन्हें कैसे कह सकता हूँ?" उमरावसिंहका उत्तर था।

"भाई, यह भी तो सम्भव है कि वे भूल गये हों—आखिर उन्हें एक यही तो काम नहीं!" माने राह दी, तो बोले—"जो महाराज इतने दूरके राज्यका संचालन करते हैं, वे अपने पासकी कोई बात भला कैसे भूल सकते हैं?" और यों ही सवा साल बीत गया। इस बीच घरकी पूँजी समाप्त हुई; फिर जेवर बिका और उपवासकी स्थिति आने ही वाली थी कि महाराजने एक दिन दरबारसे उठते-उठते कहा—"उमरावसिंह, सुना है कि दो-तीन माससे तुमने अपना वेतन नहीं लिया, क्या बात है?"

"महाराज, मैंने तो कभी भी वेतन नहीं लिया। आप ही अपने अधिकारीसे घर भिजवा दिया करते थे।" शान्त स्वरमें उमरावसिंहने उत्तर

दिया। महाराजने अधिकारीको बुलाया, तो हिसाब दो-तीन मासका नहीं, सवा सालका निकला। महाराजने उमरावसिंहको आलिंगनमें भर लिया और भावविभोर होकर बोले—"तुम हीरा आदमी हो उमरावसिंह !"

हमेशाकी तरह दोनों मोटरमें बैठ कर चले, पर आज मोटर महाराजके महल पर नहीं, उमरावसिंहके मकान पर रुकी और आश्चर्य, अद्भुत, अभूतपूर्व, अविश्वसनीय ! कि महाराज मोटरसे उतर कर उमराव-सिंहके मकानमें घुस चले—"मा, तुम्हारे दर्शन करने आया हूँ आज, क्योंकि उमरावसिंह आज तक मेरा सेक्रेटरी था, आज भाई हो गया है और तुम अब मेरी मा।" माने बलैया लीं, हर्षके आँसुओंसे भीगीं, भावुकतासे गद्‌गद और स्वप्नके पंखों पर तैरती। दूसरे दिन पूरा वेतन और ऋणका पूरा धन अधिकारी माको दे गया—अब कलम महाराजके हाथमें थी, तो कलाई उमरावसिंहके, वे महाराजके विश्वासकी अखण्ड ज्योति थे। उन्हें राज्यमें महाराजके बाद सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

दुर्भाग्यवश कुछ वर्ष बाद महाराज प्रतापसिंहकी सहसा मृत्यु हो गई। इसका उनके मन पर बहुत प्रभाव पड़ा, पर राज्यमें उनकी प्रतिष्ठा अखण्ड रही और वे स्टेट-सेक्रेटरीके पद पर प्रतिष्ठित किये गये। इस पद पर उनसे पहले उस राज्यमें कभी कोई भारतीय नहीं बैठा था।

वे गैरोंके लिए भी अपने थे और अपनोंके लिए भी गैर। वे न्यायके मनुष्य थे, न्याय ही उनका आदर्श था। न्यायके लिये वे सब कुछ कर सकते थे, पर न्यायके विरुद्ध वे एक पग भी नहीं उठा सकते थे। उनके एक पुत्रको एक अच्छा पद मिला, पर राज्यकी मर्यादाके अनुसार जब तक पद स्थायी न हो, वे मोटरमें बैठ कर कार्यालय न जा सकते थे। यह बात बेटेके लिए अपमानजनक थी कि स्टेट सेक्रेटरीका बेटा साइकिल पर जाये या पैदल। वे रूठ कर बैठ गये और नौकरी छूट गई।

अब बाबू साहब बेकार और पण्डितजी पर तकाजा कि हमारी नौकरी

लगाओ। सुनते रहे, सुनते रहे। एक दिन बोले—"लो लगा दी है तुम्हारी नौकरी, कल अमुक दफ्तरमें जाना।" गये दफ्तर, पर हे राम, हे राम! ६० रुपल्ली महीनेकी नौकरी और क्लर्कोंका काम! स्टेट-सेक्रेटरीका बेटा ६० रुपयेका क्लर्क! बाबू साहब रूठे रहे, अकड़े रहे, गुम रहे और साल निकल गया। बेकारी बुरी बला, पर अच्छी नौकरी मिलनेकी यह शर्त कि पहले कुछ दिन वह नौकरी करो। झुके बाबू साहब और हो गये ६० रुपयेके क्लर्क। १।। साल खूब मँजाई हुई, तब उन्हें साहबी मिली। किसीसे कहा—"अब इसे मालूम हो गया है कि कितने पसीनेमें एक रुपया मिलता है।"

उनका जीवन एक आस्तिकका जीवन था, पर कितनी विचित्र बात कि हम जिन अर्थोंमें किसीको आस्तिक कहते हैं, उन अर्थोंमें वे आस्तिक न थे—मन्दिर-मस्जिदके निवासी किसी ईश्वरमें उनका विश्वास न था। हाँ, स्नानके बाद अपने छोटेसे शान्त पूजागृहमें वे जाप किया करते थे। उनका मन्त्र था—"मैं दिन-प्रति-दिन अच्छा होता जा रहा हूँ।" ईमानदारी, योग्यता, लगन, निष्ठा और परिश्रमके साथ जीवन-व्यवहार ही उनकी आस्तिकता थी। वे मधुर भी थे, मनोरम भी थे, महान् भी थे।

मुरारी भाई

४ सितम्बर १६३० की शाम, सहारनपुर जेलका बाहरी आंगन, जेलकी जिन्दगीमें मेरा पहला दिन, सम्भावना और कौतुकसे भरा। मैं १० नम्बर वार्डके सामने खड़ा टुकर-टुकर देख रहा था उस विशाल जेलको और विचार इतने थे कि विचार ही विचार थे। तभी कहींसे आई गानेकी आवाज़-मधुर सुरीली। बचपनसे सुना था जेल नरक है, भयंकर नरक है और मनमें बैठ गया था कि वहाँ अन्धेरा ही अन्धेरा होगा—एकदम गन्दी और डरावनी, पर आज दोपहर आकर देखा था कि वह प्रकाशपूर्ण है, स्वच्छ है, विशाल है, व्यवस्थित है और तब सोच रहा था कि फिर जेल कहाँ है—तभी सुनाई दी यह गानेकी धुन। गाना तो स्वर्गका श्रृंगार है, यह जेलके नरकमें कैसे? और यह कौन है कि यहाँ इस मस्तीमें झूमकर गा रहा है?

स्वरका पीछा करती आँखें गायक तक पहुँचीं, तो देखा एक सुन्दर सुकुमार किशोर, यही कोई १५ वर्षका, एक पेड़के नीचे बैठा मस्तीसे गा रहा है। जेलके उस वातावरणमें वह मुझे तो एक गन्धर्व कुमार-सा लगा। पूछ-जाना कि कांग्रेस कार्य-समितिका प्रस्ताव सेनाओंमें बाँटने कांग्रेसके जो स्वयं-सेवक रुड़की गये थे, उनमें यह भी एक था—नाम है मुरारी।

वह रोज़ कहीं बैठकर गाता, मैं रोज़ कहीं बैठकर सुनता। उसके गानेमें मस्ती थी, बातोंमें चुलबुलापन, चलनेमें चुस्ती, व्यवहारमें मधुरता; पर यह सब एक बाँकपनके साथ, एक पैनापन लिये हुए। वह पलभरमें बाँसुरी छोड़ बाँस पकड़ लेता, कुसुमसे कटार हो जाता और क्या बताऊँ

मुझे यह सब अच्छा लगता, मैं सोचता यह आगे चलकर हमारे ज़िलेकी एक शक्ति बनेगा।

पुलिसकी तैयारी अधूरी रही या क्या हुआ, वह बिना दण्ड पाये उस मुक़दमेंसे छूट गया। शामको मुझे वह पेड़ उदास लगा, जिसके नीचे वह गाता था और वह कमरा सुस्त, जिसमें वह रहता था—सचमुच कम्बख्तमें गज़बकी सजीवता थी। जो लोग जेलके उस जीवनको डल होनेसे बचाये हुए थे, वह उनका सिरमौर था।

जेलसे छूटकर भी उसे २-४ बार देखा। वह देखता, तो देखते ही खिल जाता, कोई सेवा पूछता, अपनी राह छोड़कर भी सौ कदम साथ चलता और अलग होते-होते फिर दर्शन देनेका अनुरोध करता। देखनेमें सुन्दर, स्वास्थ्यसे उद्दीप्त, स्वभावसे चुलबुला और व्यवहारमें शालीन; तबियत खुश हो जाती, मैं उससे अपनी उमीदें बाँधता रहता।

तब आया १९३२; क्रूर शासक लार्ड विलिंगडनका दमन-युग। १९३० में स्वतन्त्रता आन्दोलनकी विरोधी शक्तिका प्रतिनिधि था लार्ड इरविन-राजनीतिज्ञ और भला। उसे हमने 'गांधी-इरविन पैक्ट' के रूपमें हरा दिया था—हमारा हाथ ऊँचा रहा था, हम जीते थे और अँगरेज पहली बार हारा था। इस हारकी इंगलैण्डमें चर्चा हुई थी, इरविनकी ढीलको उसका कारण बताया गया था। सहज था कि विलिंगडनके मनमें यह कसक थी, मनोवैज्ञानिक चोर था कि मैं कोई ढील नहीं करूँगा—हाँ यह भी कि इरविनकी ढीलका बदला लेकर दिखाऊँगा।

गोलमेजसे लौटते-लौटते उसने गांधीजीको धर पकड़ा और देशभरमें आतंककी आंधी उठा दी। जल्से-जलूस नामुमकिन हो गये—हर कार्यकर्ता पर पुलिसकी निगाह थी, हर नेतापर एमर्जेंसी पावर आर्डीनेंसकी पाबन्दीका ताला लगा था और हर बाजार-सड़क दफा १४४ से जकड़ी

हुई थी। एक बार तो लगा कि भागीरथकी बहाई गंगाका प्रवाह रुक गया—हाँ, आन्दोलनकी गंगाका प्रवाह!

१९३० में कोई मामूली जल्सा भी होता तो हजारोंकी भीड़ जुड़ जाती और कोई मामूली कार्यकर्ता भी गिरफ्तार होता, तो बाग़ोंके फूल उसके गलेका हार आ बनते। और नारे? ओह, वो नारे लगते, वो नारे लगते कि आसमान फट-फट पड़ता, पर यह था १९३२ कि पुलिसकी आँखें चौकन्नी थीं और लाठियाँ बरसनेको बेचैन, कसमसातीं; तो लगा क्या, रुक ही गया आन्दोलनकी गंगाका प्रवाह!

प्रवाह रुक गया, पर रुके रहना उसके लिए सम्भव न था, रोके रखना उनके बसकी बात न थी। बान्धकी झिर्रियोंमें से उसने झाँका और बह निकला। जाने कब, कहाँ और कैसे, यह तै होता कि कल जलूस निकले और २-४ कार्यकर्ता आँख बचाकर, गलियोंमें पुलिसकी चौकन्नी आँखोंसे आँखमिचौनी खेलते एक चौराहे, बाजार या सड़क पर आ इकट्ठे होते। अजब बात कि वहीं कहीं पड़ा उन्हें मिल जाता एक बाँस-लाठी-डन्डा, किसीकी जेबसे निकल आता तिरंगा झण्डा और उसके फहराते ही गूंज उठते नारे—इनकलाब जिन्दाबाद, भारत माताकी जय और बस चल पड़ता २-३-४ सिरफिरे कार्यकर्ताओंका यह छोटा-सा, पर भीलोंके विष बुझे तीरोंसा, कलेजा-काट जलूस। कुछ हिम्मतिये आसपास आ जुटते, कुछ बच्चे-बच्चे साथ हो लेते और बाकी छज्जों, छतों, खिड़कियों, झरोखों और घरों-दुकानोंसे भाव-विभोर हो देखने लगते। पुलिस पर पहले पानी पड़ता, फिर उसके भीतर आग जल उठती, लाठियाँ चटखतीं, हड्डियाँ कड़खतीं, इनकलाब गूँजता—गूँजगूँज उठता और कार्यकर्ता हथकड़ियोंमें बन्धे जेल पहुँच जाते।

मुरारी भाई भी एक दिन यों ही जेल आ पहुँचा। कन्धे थपथपाकर

मैंने पूछा—"कहो मुरारी भाई, हड्डियाँ गरम हुईं या बस हथकड़ियों पर ही बीती ?"

बोला—"हो तो जातीं भाई साहब, हड्डियाँ गरम, पर लाल दुपटियाने अपना डण्डा छुआ, तो मैंने कहा—दीवानजी, इसे अपने ही चूतड़ों पर जमा रहने दो। इसे निकालोगे, तो बीचसे चाकू निकाल दूँगा और घरवालोंको एक की जगह दो कब्रें खोदनी पड़ेंगी एक साथ; बस बेचारा ठण्डा हो गया।"

दीवानजी ठण्डा हो गया, पर जेल गरम हो उठी। कभी मुरारीका तसला बजता, कभी घड़ा; रातके सन्नाटेमें कभी आवाज़ कूकती और कभी घुँघरूके स्वर बिखरते और यों ही हँसते-गाते छः महीने बीत गये।

विलिंगडन जीत गया, हम हार गये और अपनी-अपनी जेल काट, यों लौटे कि माकी अस्थियाँ गंगामें बहा हरिद्वारसे आ रहे हों। मुरारी भाई अब भी कभी-कभी मिल जाता, पर मैं देखता चेहरे पर विकृति, आँखोंमें अशान्ति, व्यवहारमें रूखापन—वह दिन-दिन खोया-सा जा रहा था।

मुरारीके पिताजी मर गये थे। उसने चाहा कि उनकी जगह उसे मिल जाये, पर मालिकको यह मंजूर न था और यों मुरारी अब बेकार था। मुरारीकी नस-नसमें जोश था, कुछ करनेकी कसमसाहट थी, पर कुछ करनेका उपाय न था और उसका जोश धीरे-धीरे उसकी होशको चाट रहा था।

१९३१ की ४ मार्चको अँग्रेजी शासनके प्रतिनिधि लार्ड इरविनने भारतके सम्बन्धमें गांधीजीसे समझौता कर बिना कहे ही मान लिया था कि कांग्रेस ही भारतकी एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था है और ब्रिटिश कूटनीति इस भूलपर अब पछता रही थी। इस भूलको हल्की करनेके लिए वह हिन्दू-मुसलमानोंकी कुछ संस्थाओंको बढ़ावा दे रही थी। साम्प्रदायिक वातावरण

जगह-जगह तनाव पर था, मुसलिम गुण्डागर्दीको पोषण दिया जा रहा था, उत्पाती वातावरण सघनता ले रहा था। सार्वजनिक जीवनमें राष्ट्रीयताकी जगह साम्प्रदायिकता पनप रही थी।

मुरारीकी तेज आँखोंने अपने नगरमें यह देखा, उसका व्यक्तित्व उभरा, कर्तव्य चमका, सूझ सफल हुई और वह एक जवाबी टुकड़ीका जीवन-प्राण हो गया। आज कहीं गुत्थम-गुत्था होती, कल चाकू निकलते, परसों डण्डे बज उठते। अपने मुरारीके इशारोंपर चलते, विरोधी उसके दावोंसे परेशान रहते, वह २४ घण्टे किसी जुस्तजूमें लगा रहता। कमाल यह कि मुरारी सदा अंग्रेज़ पुलिस कप्तान पर सवार रहता, उसे हर बात की सूचना देता, उसे उसके बंगलेसे उठा लाता, शहर घुमाता, विरोधियों की तैयारियाँ दिखाता और आने वाले भयंकर विस्फोटको रोकनेकी बातें करता।

एक दिन कुछ बड़े आदमी—खान बहादुर, राय बहादुर, पुलिस कप्तानके बंगले पर इकट्ठे हुए और उत्पाती तत्वोंके दमनकी चर्चा हुई। नगरके गुण्डोंमें कुछके मुचलके लिये गये, कुछकी निगरानियाँ खोली गईं, उन्हें गुण्डा घोषित कर रातमें पुलिस द्वारा आवाज लगाकर हाजिरी लेना आरम्भ हुआ।

इन गुण्डोंमें मुरारीका भी नाम था, पर क्यों? वह उत्पाती नहीं, उत्पात-निवारक था, फिर उसका नाम इस सूचीमें क्यों? इसलिए कि अङ्गरेज राजनीतिका सिद्धांत है—शक्ति संतुलन; तो अपराधियोंकी सूचीमें कुछ हिन्दू नाम भी तो चाहिएँ ही और दूसरे इससे मुस्लिम गुण्डोंको शान्ति मिलेगी कि हम फँसे तो क्या, यह भी तो फँसा—उसके साथी भी तो फँसे और सूची असाम्प्रदायिक हो जायेगी!!

तो मुरारी अब चोर था, उत्पाती था, गुण्डा था। रातमें पुलिस वाला आता, आवाज़ लगाता, वह 'हाज़िर हूँ' कहता और फिर सो जाता। दो

ही दिनमें मुहल्ले-पड़ौसकी आँखोंसे मानका पानी उतर गया और चार दिन प्रतिवाद कर मुरारीकी आत्माने भी मान लिया—हाँ, मैं गुण्डा हूँ; क्योंकि धीरे-धीरे उस सूचीसे मुस्लिम नाम कटते गये और अन्तमें उसमें रह गये मुरारी भाई और उसके कुछ साथियोंके ही नाम, जैसे उस उत्पात तत्वके वे ही मूल पुरुष हों। यों देखते-देखते एक भलाई बुराईमें, शक्ति. निर्बलतामें, सेवा शोषणमें बदल गई और उससे किसीकी नींद हराम नहीं हुई, कोई परेशान नहीं हुआ—हाय री हमारी मानवीय सहानुभूति !

मुरारी महा निन्दैल—घोड़े बेचकर सोने वाला आदमी। पुलिसकी आवाज़से उसकी नींद टूटती, वह झुंझलाता और सिपाहीको तरह तरह तंग करता। सिपाही आवाज़ लगाता, तो वह चुप रहता, उसके चिल्लाने पर बोलता। उसकी आवाज़ पर सिर्फ हूँ कह देता नाक ही नाकमें और यों ऊँ आँमें उसे घण्टों तंग करता। किसी दूसरे शहरमें बिना कहे चला जाता, वहाँ पुलिसमें हाजिरी लिखाता। कई दिन बाद लौटता। यहाँका सिपाही उससे पूछता कि कहाँ गया था, तो कहता—डकैतीमें गया था, माल लाया हूँ, अब पड़े पड़े खाऊँगा और हाजिरी लिखाऊँगा। सिपाही रिपोर्ट लिखाता, मुरारी पेशी पर जाता, उस शहरकी पुलिससे ली हुई रसीद दिखाता और कहता—"जनाब, मैं इस सिपाहीसे कह कर गया था और आकर रसीद उसे दिखा दी थी, पर यह रिश्वत माँगता है और न देने पर जेल भेजनेकी धमकी देता है।" सिपाही पर झाड़ पड़ती, वह नाराज होता, यह उसे और छकाता !

मुरारीका भविष्य अन्धकारमय था और वर्तमान अवरुद्ध, पर उसके भीतर एक प्रकाश था। यह प्रकाश था एक नारीका। यह नारी भी एक कहानी है। यह धोखादेहीके अपराधमें जेल आई। मुरारी भी तब जेलमें था। जेलके वार्डरोंसे इसने सुना कि महिला वार्डमें एक ऐसी स्त्री है। इसने अपनी सहानुभूति उस तक भेजी, उसे यथासम्भव आराम

पहुँचाया, भरोसा दिया। बिना जाने-देखेकी इस ममतासे वह प्रभावित हुई। मुरारी जेलसे छूटा और उसे छुड़ा लाया, दोनों एक हो गये।

इसके साथ मुरारी भाई अपने इन दुर्दिनोंमें भी सन्तुष्ट था, सुखी था, पर इस सुखमें आग लग गई, जब उसने अपनी पत्नीका एक मित्रसे परिचय करा दिया। वह धीरे-धीरे मुरारीके जीवनकी कुरूपता-कुल्हाड़ीसे उसकी जड़ें काटता और अपने वैभवके जलसे अपनी जड़ें सींचता रहा। वह सफल हुआ और एक दिन मुरारीका भाग्य फूट गया। उसकी कोमलता सूख गई और हर वर्जनीय उसके लिए करनीय हो गया!

हाँ, उसकी कोमलता सूख गई और वर्जनीय कर्म उसके लिए करनीय हो गया, पर उसके भीतर बाँकपनका जो दीपक सदा जलता रहा, वह नहीं बुझा।

एक दिन वह स्त्री किसी बहाने उसके घर आई, अपने कामपर पछताई, दुखी हुई और बोली—"मैं अब यहीं रहूँगी।"

मुरारीने कहा—"मैं तेरा खादिम हूँ हमेशा, पर रहना अब वहीं है।"

छलकती आँखों उसने पूछा—"क्यों"?

बहती आँखों इसने कहा—"फिर उसमें और मुझमें फर्क ही क्या रह जायेगा?"

सोचता हूँ यह उत्तर है या हीरेकी कणी और हीरेकी कणी है या कलेजेका टुकड़ा और कलेजेका टुकड़ा है या ज़िन्दगीकी पूरी तस्वीर?

अब भी मुरारी भाई कभी-कभी मिलता, पर बाहर-भीतर अस्त-व्यस्त और उखड़ा-उखड़ा। देखते ही लगता, जैसे वह अब किसी पुस्तकका समाप्ति चिह्न हो—इत्यलम्!

यह आया १९४२ की महाक्रान्तिका तूफान। ९ अगस्तको सब कांग्रेसी पकड़े गये, पर मुराई भाई तो अब कांग्रेसी न था, फिर क्यों पकड़ता उसे कोई? उसने मैदान देखा, तो उसके पैर मचमचाये।

मंगलाचरणके रूपमें वह एक दिन जिलेके अंग्रेज कलक्टर और पुलिस कप्तानके साइनबोर्डोंपर तारकूल फेर आया और तब उसने भाग लिया कुछ दाह-संस्कारोंमें ।

यह सब उसके वर्तमान जीवनके उपयुक्त था, पर हाय रे मनुष्यके स्वभाव-संस्कार, मुरारी भाईका मन इन सबमें न लगा । उसकी आत्मा तो अपने मूलमें महात्मा गांधीके स्वयंसेवककी आत्मा है । एक दिन उसने अपना पुराना धोती-कुरता निकाला और लायड जैसे नादिरशाह कलक्टर की चौंक-चातुरीको तार-तार कर बाजारको नारोंसे गुंजा दिया ।

जेलमें पहुँचते ही आ-लिपटा, तो मैंने पूछा—अच्छा, तुम आ ही गये ! बोला—"सब साथी जेल आगये तो जिन्दगी सूनी लगने लगी। पहले तो सोचा, जेल तोड़ कर सबको बाहर निकाला जाये, पर हाथ-पैर नहीं जुड़े, तो खुद ही छलाँग आया भाई साहब !"

सुनकर कलेजेमें बर्छी-सी चुभ गई-ओह, इसकी दृष्टिमें हम इसके साथी हैं, जो कभी इसे प्यार-मानकी एक बून्द भी नहीं दे पाते और यह मनसे अब भी हमारे साथ ही जी रहा है कि हमारे बिना इसे ज़िन्दगी सूनी-सूनी लगी !

देश स्वतन्त्र हो गया, उसके जेल-फैलो क्यासे क्या हो गये, पर वह ज्योंका त्यों जीवनकी गाड़ी खींचे चला जा रहा है—घिसट रहा है । देशकी एक भी पुकार पर वह नहीं चूका । बदलेमें देशसे उसने कुछ नहीं मांगा, देशने उसे कुछ नहीं दिया, पर उसने कभी किसीसे शिकायत नहीं की, ईर्ष्या नहीं की और चुपचाप अपने जीवनको संवारने-सम्भालनेके प्रयत्न करता रहा, टैक्सटाइल मिलके एक श्रमजीवीके रूपमें आज भी कर ही रहा है ।

मैंने अक्सर सोचा है–इतनी बुरी ज़िन्दगी जीकर भी, कहींसे कोमलता की एक बूँद न पाकर भी, मुरारी भाईकी इंसानियतका पौधा क्यों नहीं

सूखा ? उसकी जीवनमें दिलचस्पी क्यों बनी रही ? वह एक जीता झांवां क्यों नहीं हो गया ? और उसने किसी झटकेमें आत्महत्या क्यों नहीं कर ली ?

जब जब ये प्रश्न उभरे हैं, एक शान्त और स्वस्थ चेहरा मुझे दिखाई दिया है। यह है मुरारी भाईकी मा चन्द्रावतीका चेहरा। उसका प्यार, उसकी ममता, उसकी सेवा सदा बिना किसी शर्तके मुरारी भाईको मिली है। उसने अपने बेटेकी कभी किसीसे शिकायत नहीं की, उसने अपने बेटेसे कभी कोई शिकवा नहीं किया, उसने कभी अपने बेटेको बुरा नहीं समझा। वह उसके कारण लाञ्छित हुई, परेशान फिरी, त्रस्त रही, पर उसके घरका, उसके हृदयका द्वार सदा मुरारी भाईके लिए खुला रहा, उसका चूल्हा सदा जागता रहा, उसके हाथ पैर चलते रहे। इस ममतामयी भागीरथीके तट बैठा मुरारी सूखता क्यों ? टूटता क्यों ? मुरारीने दुर्दैवके लाख अपहरण सहे, दैवका दिया यह लाखोंका एक उपहार तो पा लिया— मुरारीकी मा मुरारीके लिए कब डर्बीकी लॉटरी नहीं रही ?

मुरारीपर मुझे १०० बार गुस्सा आया है, हजार बार तरस आया है, पर जब-जब मुझे यह ध्यान आया है कि उसके सिर मा चन्द्रावतीके आँचलकी छाया है; मुझे उसके सौभाग्यसे ईर्ष्या हुई है और मैंने सोचा है—कितना बड़ा भाग्य है इस मुरारीका !

धर्म लाख फतवे दे, कानून कुछ भी कहे, मुरारी भाई बदइन्सान नहीं है, हाँ बदनसीब है, पर यह बदनसीबी भी स्वयं उसकी नहीं, हमारी सड़ी समाज-व्यवस्थाकी बदनसीबी है !!

पण्डित रामेश्वरदयाल

"बाबूजी, सनलाइट सोपमें क्या खास बात होती है ?" अर्दलीने गहरी जिज्ञासाकी मुद्रामें टाइप बाबूसे पूछा।

"ख़ास बात क्या होती, साबुन होता है वो भी !"

"नहीं जी, कोई ख़ास बात ज़रूर होती है उसमें !"

और तब वह मेरी ओर मुड़ा—"अच्छा हम इनसे पूछ लेंगे।"

मैंने कहा—"नहानेके साबुनोंमें खार इतना हल्का होता है कि वह कपड़ोंका मैल नहीं काट पाता और कपड़ा धोनेके साबुनोंमें खार इतना तेज़ होता है कि मलनेसे शरीरको खुश्क कर देता है। सनलाइटमें खार कुछ इस तरह दिया गया है कि वह कपड़ेको साफ़ कर देता है, पर शरीरको खुश्क नहीं करता।"

खुश होकर विशम्भरसिंह अर्दलीने टाइप बाबू सनत्कुमार जैनसे कहा—"हम कह नहीं रहे थे बाबूजी, कि सनलाइटमें ज़रूर कोई ख़ास बात होती है।"

अर्दली भाईकी जिज्ञासा शान्त हो गई, पर इस शान्त जिज्ञासाके सम्बन्धमें मेरे मनमें एक अशान्त जिज्ञासाने जन्म ले लिया—आप ही आप भाई बिशम्भरसिंह सनलाइट सोप-जाँच-कमेटीके चेयरमैन क्यों बने हुए हैं ?

पूछने पर जो उत्तर मिला, वह मेरे लिए एक अध्ययन था—"हमारे सरकार आज अपनी एक रिश्तेदारीमें जा रहे हैं। मुझसे उन्होंने कहा कि सनलाइट सोप लाकर मेरी नई साबुनदानीमें रख देना। मैंने उनसे कहा कि सरकार, वह साबुनदानी तो छोटी है, उसमें सनलाइट नहीं

आयगा, इसलिए लक्स रख दूँगा। बोले—ना, सनलाइट ही लाना और पूरी टिकिया उसमें न समाये, तो काटकर आधी रख देना। मैंने सोचा कि सरकार अपनी रिश्तेदारीमें जा रहे हैं। वहाँ कोई आधी टिकिया देखेगा, तो क्या कहेगा? फिर भी सरकार सनलाइट ही चाहते हैं, तो ज़रूर उसमें कोई खास बात होगी। इसीलिए मैंने आपसे पूछा।"

सनलाइटकी बात समाप्त हुई, पर मैंने सोचा कि यह कैसा संस्मरण है कि उसमें एक मनुष्यका पूरा चरित्र समाया हुआ है। वह चरित्र है—सोच समझ पर राय कायम करना और फिर उसपर किसी भी हालतमें स्थिर रहना। दूसरे शब्दोंमें यह है विश्वासोंकी गहराई और उसपर आचरणकी दृढ़ता। इस गहराई और दृढ़ताके अधीश्वर हैं श्री पण्डित रामेश्वरदयाल आई० ए० एस०।

१५ अगस्त १९४७ को देशमें स्वतन्त्रताका सूर्य उदय हुआ कि उसके साथ ही उसे निगलनेको बेचैन राहु भी उभर उठा। इतिहासका अद्भुत द्वन्द था यह। पाकिस्तानी पंजाबसे जान लेकर जो हिन्दू भागे, उनका एक बहुत बड़ा काफिला सहारनपुरमें आया। कोई साढ़े तीन लाख शरणार्थी पहली किश्तमें यू० पी० में आये, तो कोई ६६ हजार उनमें से सहारनपुर जिलेमें थे।

हर शरणार्थी बन्धुकी एक कहानी थी–जलती कहानी, जलाती कहानी; जलनकी चिनगारी भी नहीं अंगारे भी नहीं; लूकी जलन कि जलाती चली जाय, लपटकी जलन कि फैलती रहे, फूकती रहे। सहारनपुरमें आग लग गई। लगा कि यह आग कभी बुझेगी नहीं और यहाँके मुसलमानोंको जलाकर राख कर देगी। हर मुसलमान भागनेकी फिक्रमें। तीन-चार सौ रुपयेकी क़ीमतके तांगे सत्तर-पिछत्तरमें बिक गये, तो सिलाईकी नई मशीन तीस-चालीसमें-पासमें और कुछ न हो, तो किरायेके लिए रुपये तो चाहिएँ ही। हर घर जलती भट्टी कि जाने कब फूकदे; तो हर घर फाँसीका तख्ता कि

जाने कब गला घुट जाय–सरकारी कैम्प मुसलमानोंसे घचाघच कि ट्रेन मिले, तो भागें; यों चारों तरफ़ आग, घबराहट और अव्यवस्था !

इस स्थितिमें आये पण्डित रामेश्वरदयाल जिलाधीश होकर। सिरपर सिक्खाशाही साफा, तो गलेमें मालवीयाना दुपट्टा, ठेठ हिन्दू ! मुसलमानोंको वे उस घबराहटमें भयानक भूत दिखाई दिये, पर दूसरे ही दिन उन्होंने यह घोषणा की—"ये कैम्प तोड़ दिये जायँगे, सब मुसलमान अपने-अपने घरोंको तुरन्त लौट जायँ—उनकी जान मालकी ज़िम्मेदारी मुझपर है !"

डौंडी क्या पिटी, बहती लहरें रुक गईं। साम्प्रदायिक लोग सन्न रह गये, तो राष्ट्रीय मन प्रसन्न। विश्वासका उदय हुआ, गुण्डोंके दिल दहले, राज्यकर्मचारी चौकन्ने-चुस्त हुए और नागरिक जीवनमें सन्तुलन आया। लगा कि ज़िला उनके सामने नहीं, उनकी मुट्ठीमें है। और उनसे बिना पूछे कोई पर नहीं मार सकता। पण्डितजी भयानक भूतसे देवदूत हो गये।

सुबह ५ बजे वे अपना बूट बाँधते और रातमें ११ बजे खोलते। कभी-कभी तो पलंग उन्हें देखनेको भी न मिलता और कुर्सीपर ही झपकियाँ ले लेते। चारों ओर दूर-दूर तक बारूद बिछा था। कोई नहीं बता सकता था कि कहाँ कब कैसा शोला भड़क उठे, पर जैसे वे हज़ार आँखोंसे देखते रहते और लाख हाथोंसे सम्भाले रहते। भलोंको उनका भरोसा था, तो बुरोंपर उनका आतंक था। सबके लिए वे शासक थे।

शीघ्र ही उनका यश उन्हें भारी होने लगा। आस-पासके जिलोंमें जहाँ भी उपद्रव होता, वहाँके मुसलमान भागकर सहारनपुर आ जाते—उन्हें भरोसा रहता कि सहारनपुरमें कुछ नहीं हो सकता, और कहीं चाहे जो हो, पर उनका व्यक्तित्व कि बोझको कभी बोझ न मानना, संकटसे कभी उद्वेलित न होना और बोझ एवं संकटके बीच यों रहना कि जैसे यह

रोज़की बात है। संहार और निर्माणका उनमें ऐसा समन्वय कि देशघाती विकृतियोंके लिए वे संहार, तो देशपालक सुकृतियोंके लिए निर्माण।

उनके संहारकी भी एक विशेषता है और निर्माणकी भी। अपराधको देखते ही; अक्सर तो उसके जन्मसे पहले ही, वे अपराधीको अपनी मुट्ठीमें ले लेते है। अब अपराधी अपनेको घिरा अनुभव करता है। यह मुट्ठी धीरे-धीरे उसे कसती है और कोल्हूका मजा देती है। यहाँ अपराधका जीवित रहना असम्भव है, पर यहीं वह विशेषता है कि अपराधके समाप्त होते ही यह मुट्ठी एकदम मुलायम पड़ जाती है, अपराधीको सम्भालनेमें सहारा देने लगती है और वे 'रामेश्वर' से अधिक 'दयालु' हो जाते हैं।

उन दिनों वे एक सज्जनसे उसकी साम्प्रदायिक प्रवृत्तियोंके कारण बहुत नाराज़ थे, पर ज्यों ही दण्डका वज्र उसपर पड़नेको था, वह भयंकर रोगमें फँस गया। उन्होंने तुरन्त दण्ड स्थगित कर दिया, पर भावी दण्डका भय अब भी उसपर सवार कि स्वस्थ हुआ और हथकड़ियाँ पड़ीं। रोग बढ़ने लगा, मृत्यु पास आने लगी। वे ममतामें विभोर हो, स्वयं उसकी रोग-शैय्यातक पहुँचे और उसे अभयदान दे आये। बिना कहे भी हम समझें कि यह क्षमा दण्डसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई।

उनके निर्माणकी विशेषता यह है कि वे नारों और प्रदर्शनोंके मोहमें नहीं पड़ते, अपने वास्तविक लक्ष्यपर आँखें गड़ाये रहते हैं। इससे उनका विज्ञापन नहीं हो पाता, पर काम हो जाता है। यशकी चाह मनुष्यकी अन्तिम कमज़ोरी है, पर उन्हें बहुत निकटसे देखकर मैं कह सकता हूँ कि सस्ते विज्ञापनकी चाह उन्हें नहीं छू पाती। बहुत बार सत्कर्मके बदलेमें भो महिमाका माधुर्य न पाकर वे निन्दाका नमकीन ही पाते हैं, पर ठेठ ब्राह्मण होकर भी मैंने उन्हें यह नमकीन बहुत चावसे खाते देखा है।

एक नेताकी अनुचित बात न माननेपर वे पण्डितजीसे नाराज़ हो

गये और बड़ोंसे उनकी निन्दा की। मैंने एक दिन कहा—"चलिए आपको उनसे मिला दूँ, वे मेरे मित्र हैं।"

बोले—"निन्दा और स्तुतिका हिसाब जोड़ना मेरा काम नहीं है। भैया, मैं तो सब तरहसे आँख मूँदकर देशके हितका ध्यान अपनी पूरी योग्यता और बुद्धिके अनुसार रखता हूँ और मेरे लिए इतना काफी है।" यह अखण्ड निष्ठा ही उनके निर्माणकी दागबेल है—उनके कर्मकी प्रेरणा है।

गान्धीजीके अस्थि-विसर्जनका समारोह हरद्वारमें भी हुआ। नेता और कार्यकर्ता प्रदर्शनको भड़कीला बनाने और जलूसकी राह तै करनेमें घण्टोंसे व्यस्त थे। व्यथित हो आपने कहा—"आप आज्ञा देंगे, तो यह काम मैं इकले ही निमटा दूँगा। आप तो कृपाकर यह सोचें कि हरद्वारसे कुल तीन मील दूर ज्वालापुरके जो मुसलमान भयके कारण भागकर दूर-दूर गावोंमें जा पड़े हैं, क्या इस जलूसमें उन्हें भी बुलाना आवश्यक नहीं है और क्या इस अवसरपर हम उनसे यह अनुरोध नहीं कर सकते कि वे अपने-अपने घरोंमें वापस आकर रहें?" किसीके साहसने उस दिन हाँ न की, पर वे अपनी धुनमें लगे रहे और कुछ दिन बाद ही सबको बुला लाये, बसा दिया। सचाई यह है कि साम्प्रदायिकताके जिस मोर्चेपर वे डटे थे, उसका ऐतिहासिक महत्व था; क्योंकि स्थिति यह थी कि सहारनपुर बह जाय, तो यू० पी० बह जाय और यू० पी० बह जाय, तो भारत बह जाय!!!

विरोधीपर विजय पानेकी उनकी नीति है दुधारी मार। पहले झटकेमें वे विरोधीको मजबूर कर देते हैं कि वह हथियार डाल दे और दूसरे झटकेमें उसे मजबूर करते हैं कि वह सोचे-समझे कि जो वह कर रहा था, वह अनुचित था! उस आत्मघाती साम्प्रदायिक विप्लवमें भी उन्होंने यही किया कि पहले ही झटकेमें उन्होंने उत्पातकी कमर तोड़ दी और तब

वे थाने-थानेमें सार्वजनिक जल्से करनेको निकले। शायद ही किसी दूसरे कलक्टरने इस तरहके सार्वजनिक जल्से किए हों। डोण्डी पिट जाती, हज़ारों आदमी आ-जुटते। वे अपनी बात कहते। भाषणमें न राजनैतिक धुवाँधारपन, न आर्यसमाजी लटके; एक अध्यापककी समझाऊ वृत्ति कि जैसे बात कर रहे हों। लोग सुनते, सोचते, बादमें परस्पर घर-घर चर्चा करते, राय बनाते और बस शान्ति ऊपरसे थोपी चीज़ न होकर एक सहज बात हो जाती!

दूर तक ताकती और भीतर तक झाँकती पैनी और प्रभावपूर्ण आँखें, गौर वर्ण, आत्म-विश्वास और पौरुष-पूर्ण चेहरा, भरी मूछें, पल भरमें हँसते और क्षण भरमें झिड़कते होठ और स्वस्थ, लम्बी, गठी देह, रोम-रोममें जासूसकी सतर्कता, सिपाहीकी स्फुरणा, डिक्टेटरकी निर्ममता और पिताकी ममता, यह है उनका व्यक्तित्व।

कई काम एक साथ करनेमें वे प्रवीण हैं। आपसे बात करते हैं, डाक देख रहे हैं, आये हुए लिफाफों पर स्वयं स्लिप लगा कर उन्हें दुबारा उपयोगके योग्य बनाते जा रहे हैं, ज़रूरी पत्रोंका उत्तर भी लिख रहे हैं, टेलीफोन भी चल रहे हैं, पर किसीमें न भ्रान्तिकी गुञ्जायश है, न श्रान्तिकी। वे समयसे उसकी पूरी क़ीमत वसूल करते हैं। लापरवाही, सुस्ती, ढील, इन सबसे उन्हें चिढ़ है। एक दिन सुबह ५ बजे उन्होंने टेलीफोन नम्बर मांगा, पर एक्सचेंजने जवाब ही न दिया—वे काफी देर तक रिसीवर थामे रहे, पर उधर कोई साँस नहीं। 'क्या मेरा टेलीफोन खराब है?' उन्होंने सोचा और वे एक फर्लाङ्ग पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टके बंगले पर जा पहुँचे। वहाँसे नम्बर माँगा, पर वही हाल कि कोई जवाब नहीं। बस सीधे पोस्टआफिस पहुँचे और आपरेटरको ऐसा झाड़ा कि तबियत तर होगई उसकी!

झिड़कीको मुसकानमें और मुसकानको झिड़कीमें बदल देना वे खूब जानते हैं, पर विशेषता यह है कि बातचीतका अन्त हमेशा मुसकानमें ही

होता है। आप अपने पद या परिचयका दुरुपयोग करना चाहें, तो वे कड़वे और सदुपयोग करना चाहें, तो मीठे मालूम होंगे। यस-यसको पूरी-गहरी मूडके ठीक बीचों बीच पूरे ज़ोरसे नो कहनेमें भी वे नहीं चूकते और श्री वीरेन्द्र गोयलके शब्दोंमें यहीं वे अपने चरित्रके पूरे प्रखर और प्रशस्त रूपमें सामने होते हैं। एक बात और है कि उनकी यस हमेशा मनुष्यको नहीं,उसकी मांगको देखती है। चेता चमारकी मुनासिब मांग पर वे यस कहेंगे, तो समाजके बड़ेसे बड़े आदमीकी नामुनासिब मांग उनके द्वार पर नो ही सुनेगी और यह नो इतने ज़ोरकी होगी कि वह उल्टे पावों लौट आये।

देशके प्रति उनकी निष्ठा अनथक है। छुट्टीका उनके जीवनमें कोई स्थान नहीं है। विचारोंकी स्पष्टता और विश्वासोंकी गहराई उनमें इतनी अधिक है कि वे कभी उलझते नहीं हैं, उलझाये जा सकते नहीं हैं। वे सख्त भी हैं, सरल भी हैं। संक्षेपमें वे स्वतन्त्र भारतके प्रशासनाधिकारीका एक मौडल हैं। दूसरे शब्दोंमें वे उस शासन शक्तिके एक प्रामाणिक पुर्जे हैं, जिसने राष्ट्रकी प्राप्त स्वतन्त्रताको प्रतिक्रान्तिके पहले खूनी झटकेसे बचानेका ऐतिहासिक श्रेय प्राप्त किया है।

मीरू खलीफा

परीक्षाके कुल १६ दिन थे। विद्यार्थी और अध्यापक पढ़ने और पढ़ानेमें पूरी ताकतसे जुटे हुए थे। दिन तो दिन थे ही, रातें भी क़रीब-क़रीब दिन बन गईं थीं। परीक्षा-परिणामको बढ़िया बनानेकी धुन थी और प्रथम श्रेणीका भूत सिरपर सवार था। आत्माराम शर्माके प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेकी मुझे पूरी उमीद थी, पर उस दिन शामको दायें हाथमें अपना बायाँ हाथ लटकाये वह मेरे सामने आकर खड़ा हो गया।

"क्या बात है?" मैंने पूछा कि वह रो पड़ा। दूसरे विद्यार्थियोंने बताया कि फुटबॉल खेलते समय यह गिर पड़ा और इसके ऊपर बांगरू। अब ऐसा मालूम होता है कि हड्डी टूट गई है। वाकई हाथ लटक गया था। फौरन मीरू खलीफाको बुलाया। देखकर बोले—"पण्डितजी, दोनों हड्डियाँ टूट गई हैं।"

सुनकर दिमाग सन्न हो गया। फिर भी मैंने खलीफाजीसे कहा—"इम्तहानके कुल १६ दिन हैं। आप यह हाथ ६ दिनमें अच्छा कर दें, तो बात है!" अपने भरोसे हाँ कहना, उनकी आदतमें ही न था। बोले—"कोशिश करूँगा पंडितजी, बाकी सब खुदाके हाथ है!"

नवें दिन जब पट्टी खुली, तो हाथ जुड़ गया था। बिल्कुल ठीक, सीधा-सच्चा, पर खलीफाकी हिदायत थी कि "हड्डी अभी ताज़ी है, ज़रा भी झटका लग गया, तो हाथ खराब हो जायगा।" विद्यार्थियोंकी चुलबुली ज़िन्दगी; साथियोंने उसे पंगुके ढंगपर 'करंगु' कहा और उसने अपनी शक्ति दिखाई। हड्डी झटका खा गई, हाथ तिरछा पड़ गया और उसमें मीठा-मीठा दर्द भी रहने लगा।

परीक्षाके लिए जब मैं मेरठ गया, तो मैंने अपने प्रदेशके सर्वश्रेष्ठ डाक्टर श्री भूपालसिंहको उसका हाथ दिखाया। दस-पन्द्रह मिनट गौरसे देखनेके बाद बोले—"परिडतजी, हड्डी तिरछी जुड़ गई है, किसने बाँधा था यह हाथ?"

"मीरू खलीफाने!" सहमकर मैंने जवाब दिया।

"आपके यहाँ अस्पतालके यही इंचार्ज हैं क्या? असिस्टेण्ट सर्जनोंका आजकल यह हाल है; कम्बख्त मेहनत तो करना ही नहीं चाहते!"

"डाक्टर साहब, मीरू खलीफा कोई डाक्टर नहीं है।"

"फिर क्या है, जर्राह?"

"जी नहीं,"—मैंने सकुचाते हुए कहा—"वह एक पल्लेदार है, पर इस काममें बहुत होशियार माना जाता है।"

डाक्टर साहब झुंझला उठे—"माफ कीजिए परिडतजी, आप पढ़े-लिखे बेवकूफ निकले।"

गाली किसे अच्छी लगती है। मुझे भी बुरी लगी, पर बात सच थी, पी गया।

"भूल तो वाकई हो गई डाक्टर साहब, पर यह तो बताइए कि हाथका क्या होगा?"

"होगा क्या, अब यह सीधा तो हो ही नहीं सकता। हाँ, दर्द जाता रहेगा, दवा ले जाइए। आपने इस लड़केकी ज़िन्दगी खराब कर दी!"

देवबन्द लौटकर मैंने खलीफाजीको बुलाया और डाक्टर साहबकी गालीका गुस्सा उन पर उतारा—जो कहा गया, कहा। वे शान्तिके साथ बैठे सुनते रहे; जैसे कोई धार्मिक प्रवचन हो और बादमें बोले—"अच्छा गालियाँ तो तुमने बहुत दे लीं, बादमें और दे लेना, मुझे मजदूरीपर जाना है, अब यह तो बताओ कि बात क्या है?"

मैंने डाक्टर साहबकी पूरी बातचीत उन्हें सुनाई। सुनकर मुसकराये।

बोले—"भला, इन डाक्टरोंको हड्डीका क्या पता कि किसे कहते हैं हड्डी ! पण्डितजी, पूरे उल्लू होते हैं ये लोग । बस ये कुनैनकी ही बात जानते हैं, जो आया, घोली और पिला दी !"

डाक्टरोंकी यह जन्मपत्री सुनकर मन कुछ हल्का हुआ । उत्सुकतासे मैंने पूछा—"तो क्या यह हाथ ठीक हो जायगा ?"

"ठीक इसका क्या हो जाता, जब इसमें कुछ खराबी ही नहीं है । लड़का दंगई है; ठीक जुड़ी-जुड़ाई हड्डी झटका खाकर तिरछी हो गई । चार दिनकी बँधाईमें मुलायम पड़कर अपनी जगह ले लेगी । आप तो ऐसी बात कर रहे हैं; जैसे कोई बड़ा गजब हो गया हो !"

मुझे यकीन नहीं आया, तो खलीफाको हल्का-सा ताव आ गया । बोला—"पण्डितजी, यह हाथ अच्छा न हुआ, तो आजसे पट्टी बाँधनी छोड़ दूँगा । वैसे हाथमें सब कुछ खुदाके है; मेरी तो मेहनत ही है ।"

मैंने मनोविज्ञानके एक विद्यार्थीकी तरह खलीफाके चेहरेपर आँखें गड़ाईं । एक अपूर्व आत्मविश्वास वहाँ बिखर रहा था । जयद्रथके वधकी प्रतिज्ञा करते समय अर्जुनका चेहरा भी ऐसा ही हो गया होगा !

तीन दिन एक पुल्टिस बँधवानेके बाद खलीफाने फिर हाथ बाँधा और सतरह दिन बाद जब खोला, तो वह बिल्कुल ठीक था । यहाँ तक कि आत्माराम कुवेंसे पानी खींच सकता था और पंजा लड़ा सकता था ! पट्टी खोलनेसे पहले खलीफाने खुदासे दुआ मांगी और हाथको ठीक देखकर क्षमा प्रार्थनाकी मुद्रामें कहा—"पण्डितजी, उस दिन जोशमें मेरे मुँहसे जोम की बात निकल गई । उसके लिए मस्जिदमें रातको कई बार मैं रोया और सिजदे किये—या खुदा, तू मेरे बड़े बोल माफ़ कर । आज मुझे डर लग रहा था कि मेरे घमण्डकी सज़ा इस लड़केको न भोगनी पड़े, पर नहीं, खुदाने मेरी दुआ कबूल कर ली और हड्डी ऐसी बैठ गई, जैसे बिण्टे में बिसोला ।"

मैंने अपने मनमें कहा—भला फीसके पीछे पागल डाक्टरों और हमारे खलीफामें क्या मुकाबला, और तब उस दिनकी कड़वी बातोंके लिए मैंने उनसे क्षमा मांगी। खड़े तो हम थे ही, बस मुझे कौलीमें भर लिया— "तोबा, तोबा, भला तुम भी क्या बात कह रहे हो पण्डित जी !"

मैंने उन महान् डाक्टर साहबको इसकी सूचना दी कि उस पल्लेदारने वह हड्डी ठीक करदी है। उन्हें आश्चर्य हुआ, यकीन ही न आया और उन्होंने उस विद्यार्थीको मेरठ भेजनेका अनुरोध किया। मैंने आत्मारामको मेरठ भेज दिया ! एक घण्टे तक उस हड्डीको देखनेके बाद बोले—"हाथ तो वाकई ठीक हो गया, पर यह समझमें नहीं आता कि कैसे होगया !" मुझे बताया गया कि डाक्टर साहबका चेहरा उस समय देखने लायक था और वे बेचैनीके साथ बार बार उस हाथको देख रहे थे।

एक ही उदाहरण बस और—

हिन्दुस्तानके एक अंग्रेज पुलिस-सुपरिंटैण्डैण्टका लड़का इंगलैण्डसे चला, पर जहाज पर चढ़ते समय गिरकर उसका हाथ टूट गया। जहाज में और फिर यहाँ बहुत डाक्टरोंका इलाज हुआ, पर हाथ अच्छा न हुआ। एक रईस मित्रने उन्हें मीरू खलीफाका परिचय दिया।

खलीफा शब्दसे साहब रौबमें आ गये और उन्हें बुलाया। पुराने ढंगका सिर पर एक मैला साफा, लम्बा और मटमैला कुरता, कन्धे पर लाल अंगोछा और तहमन्दके नीचे पैरोंमें फटा हुवा जूता ! खलीफाका यह रूप देख कर साहब भड़क उठा और अपने उन धनी मित्रसे बोला— "माफ कीजिए, मैं अपने प्यारे लड़केके हाथको ऐसे अनाड़ियोंकी प्रयोग-शाला बनानेको तैयार नहीं हूँ !"

साहबके हाव-भावसे अंग्रेजीका एक अक्षर न जानने वाले मीरु खलीफाने अपनी सहज बुद्धिसे समझ लिया कि साहब मुझे हाथ दिखाते घबरा रहा है। अपनी देहाती भाषामें आप बोले—"अरै साहब, तू जरा

मुझे अपणा लौण्डा दिखा तो सही। देक्खूँ, उसके हाथमें ऐसा क्या दरद बड़ गया, जो लिकड़ता ही नी।"

"नहीं नहीं, टुम हमारा लड़काका हाठ खराब कड्डेगा। टुम डाक्टर नहीं हय।" साहबने अपने विलायती उच्चारणमें यह हिन्दी उचारी, पर खलीफा भी जल्दी छोड़ने वाले न थे। उन्होंने अपने देहाती उच्चारणमें हिन्दीका यह शंखनाद किया—"अरै, फिर तू तो फुलसका बड़ा सहाब है। तेरे लौण्डेका हाथ खराब हो जागा, तो तू मुझै सरकार सै फान्सी दिवा दिये।"

उस धनी मित्रने भी साहबसे अनुरोध किया तो खलीफाका इलाज शुरू हुआ और सतरहवें दिन लड़का टेनिस खेलने लगा। उनके हाथमें कुछ ऐसा अमृत था कि बीमार पट्टी बँधवाते ही नींद लेने लगता था। वे कहा करते थे—"जब हड्डी अपनी जगह पर बैठ गई, तो फिर दरदका क्या काम?"

खलीफा साधारण स्थितिके आदमी थे। अनाज तोलना, बागोंकी फसलें खरीद-बेचना वगैरह काम करके वे अपने कुनबेका पालन-पोषण करते थे। उनका स्वभाव बड़ा दयालु था और वे सदा प्रसन्न रहते थे। वे किसी भी काममें लगे हों, खबर मिलते ही तुरन्त रोगीको देखने चले जाते थे। ऐसा करनेसे कभी-कभी उन्हें अपनी मजदूरीका नुकसान उठाना पड़ता था, फिर भी वे अपनी आदतसे मजबूर थे। मैंने देखा कि कई बार वे खानेकी थाली छोड़कर रोते बच्चोंकी पट्टी बाँधते थे। उनका वह छोटा-सा घर कस्बे और पासके देहातोंके लिए पूरा धन्वन्तरि-भवन था। लोग उनके घर रोते आते और हँसते लौटते थे!

लोभ से वे कोसों दूर थे। न उनमें डाक्टरोंकी शान थी, न वैद्योंका बड़प्पन, न हकीमोंकी तमकनत। न उनकी कोई फीस थी, न दवाखाना, न कम्पाऊण्डर। जो कोई राज़ीसे कुछ भेंट कर देता, ले लेते। देनेकी

सामर्थ्य न हो या सामर्थ्य होते भी कोई न दे, तब भी कोई बात नहीं। मैंने कई बार यह महसूस किया कि वे फीसको अपना अधिकार नहीं, देनेवालेकी मेहरबानी मानते थे; क्योंकि कोई दे या न दे, उन्हें तो अपना काम करना ही था। उनके लिए तो यह उनके खुदाकी इबादत थी!

अपनी सफलताको वे अपने खुदाकी देन समझते थे और किसीकी बीमारीमें सेवाका अवसर पाकर वे बहुत खुश होते थे। उन्हें मनका सन्तोष मिलता था। हिन्दू-मुसलमान उन्हें नहीं दीखता था। मनुष्यताके नाते ही वे रोगियोंकी सेवा करते थे। करते क्या थे; असलमें यह करना उनकी आदत हो गया था। इसके बिना उन्हें चैन ही न पड़ती थी।

एक दिन मैंने उनसे कहा—"मैं सोच रहा हूँ कि आपका अलग अस्पताल खुलवा दूँ। बस, फिर आप ताँगेमें बैठकर जाया कीजिएगा। आमदनी भी होगी और शान भी रहेगी।"

बोले—"पर एक बात है, फिर इतने बीमारोंको आराम नहीं हुआ करेगा।"

"क्यों?" मैंने आश्चर्यसे पूछा।

"बात यह है पण्डितजी, मैं तो हड्डीको ऊपरसे ही बाँध देता हूँ। उसे भीतरसे तो खुदा ही अच्छा करता है, पर जब मुझे लोभ हो जायेगा, तो खुदा मेरी मदद क्यों करेगा?"

बात यह थी कि खलीफाने एक खील-खील हुआ पैर जोड़ा था। डॉक्टर लोग उसे काटनेकी फीस दो सौ रुपये माँग रहे थे। उनकी राय थी कि पैर काट डालनेके सिवा अब और कोई चारा नहीं है। खलीफाने दस घण्टेमें वह पैर बाँधा और एक महीनेके बाद जब उसे खोला, तो वह एक दम सीधा था। हड्डीके इतने छोटे-छोटे टुकड़ोंको सही बैठाना डॉक्टरोंके लिए एक करश्मा था, पर खलीफाको इस सारे परिश्रमका फल छह रुपये मिले थे!!!

मुझे इसपर बहुत गुस्सा आया कि वह कम्बख्त डॉक्टरोंको पैर काटनेके तो दो सौ रुपये देनेको तैयार था, पर खलीफाको पैर जोड़ने के भी उसने छह रुपये ही दिये। मैंने चाहा कि जाकर उसे डाटूँ और खलीफाको एक अच्छी रकम दिलाऊँ, पर खलीफाने मुझे रोक दिया। उन्होंने उस दिन जो कुछ कहा, वह मानवताके विश्वकोषमें लिखने लायक वक्तव्य है—"अजी, पण्डितजी, मेरा कोई टैक्स थोड़ा ही है, जो जबर्दस्ती वसूल करूँ। यह तो राजीका सौदा है। क्या करूँ, पीछे बाल-बच्चे हैं, मुझे लेना पड़ता है। नहीं तो बीमारसे रुपया हाथमें पकड़ते मेरा सिर कटता है।"

उनकी यह बात याद करता हूँ, तो सोचता हूँ, वे किस सन्यासीसे कम थे। अभिमान उन्हें छू नहीं गया था—मैंने उन्हें कभी डींग मारते नहीं सुना। अपनी विद्याको यशोपार्जनका साधन भी उन्होंने कभी नहीं समझा। उन्होंने अपने जीवनमें हज़ारों आदमियोंको आराम पहुँचाया और सैकड़ोंकी जीवन-रक्षा की, पर अपने मुँहसे कभी उन्होंने अपने इन कार्योंकी चर्चा नहीं की। वे तो असलमें एक सीधे-सादे ईश्वर-विश्वासी मुसलमान थे और सेवा उनका स्वभाव था, व्यसन था, धर्म था।

"आप अपनी विद्या किसीको सिखा दीजिए, नहीं तो यह आपके साथ ही चली जायगी।" मैंने एक दिन उनसे कहा। बोले—"अजी, किसीको सिखा भी दूँ। मुसलमान लड़कोंमें तो 'सरधा' (श्रद्धा) नहीं है। वे आज आते हैं, कल माहिर हो जाना चाहते हैं और हिन्दुओंको खागई यह छुआछूत। पाँच-छह साल हुए एक हिन्दू लड़का आया था। पाँच-सात दिनमें ही बड़ा अच्छा जोड़ पकड़ने लगा था। एक दिन मेरे साथ गाँव गया हड्डी बाँधने। वहाँ मुसलमान ही मुसलमान थे। उसने पानी तक नहीं पिया। शामको वह जो गया, तो फिर मुड़कर नहीं आया। पण्डितजी, यह 'इलम' तो मेरे साथ ही कब्रमें सोवैगा!"

उनकी भविष्यवाणी ठीक हुई। अब न वे ही हैं, न उनका इल्म ही—दोनों देवबन्दकी एक कब्रमें पड़े सो रहे हैं। साठ वर्षकी उम्रमें खलीफा मौतकी गोदमें सोगये, पर उन्होंने जीवनभर सेवा एवं प्यारके जो बीज बोये, वे शाश्वत हैं और वे भी सो जायें, तो मनुष्यताका उपवन फिर बबूल और सेण्ढका जंगल ही रह जाय !

एल० बी० बैजल

सतीशचन्द्र हिसाबके मामलेमें बड़े काइयाँ, पर काइयाँ भी एक विशेष ढंगके कि उनका रुपया किसीकी तरफ़ चला जाए, तो वे ख़ुश, पर उनकी तरफ़ किसीकी इकन्नी हो, तो वे परेशान कि यह कैसे उतरे ?

कॉलेजमें पढ़नेके दिनोंकी बात, वे अपने किसी सहपाठीके साथ सिनेमा देखने गये। टिकट उस साथीने खरीदे। दूसरे दिन नौकरके हाथ टिकटके पैसे भेजे तो साथीसे उत्तर मिला—"अरे हटाओ भी !"

अपना-अपना स्वभाव; सतीशचन्द्र स्वयं पैसे लेकर गये, तो उत्तर ज़रा और सख्त—"यह वाहियात बात है !" लौट आये, पर मनमें वही उथल-पुथल। आखिर बर्दाश्त न हुआ, तो अपने एक मित्रसे उन्होंने यह बात कही। मित्र भी कॉलेजके सहपाठी।

मित्रने कहा—"मैं उसके पैसे वापस करा दूँगा, पर शर्त यह है कि तुम चुप रहो।" शर्त पक्की रही, शामको तीन साथी सिनेमा गये—दो ये और एक वही पैसे न लेनेवाला। मौक़ा दिया गया और तीनों टिकट आज भी उसीने खरीदे। दूसरे दिन शामको भी यही हुआ कि तीनों साथ सिनेमा गये और मौका देकर टिकट उससे ही खरीदवाया गया। तीसरे दिन सुबह ही सुबह नौकरके हाथ तीनों दिनोंके पैसे उस सहपाठीके पास भेजे गये और उसने बिना एक शब्द कहे ले लिये।

कॉलेजके बाद सतीशचन्द्र हुए उत्तरप्रदेशके न्यायप्रिय ज़िलाधीश (बादमें विकास आयुक्त) और उनके वे मित्र प्रभावशाली पुलिस सुपरिण्टेण्डैण्ट। उन्हींका नाम था श्री एल. बी. बैजल !

१६५० के हरद्वार-कुम्भमें वे पुलिस इंचार्ज थे। ख़बर आई कि सरकारी राशन ढोनेवाले ठेले हड़ताल कर रहे हैं। ख़बर लानेवालेसे

उन्होंने कहा—"उन ठेलेवालोंको यहाँ भेज दो और उनसे कुछ मत कहो !" वह चला गया कि उन्होंने फोनकर गवर्नमेंट रोडवेज़के मैनेजरको बुला लिया। वे उनसे बातें कर रहे थे कि आ पहुँचे ठेलेवाले। अब यह दृश्य कि बरामदेसे नीचे लाइनमें ठेलेवाले और उनके सामने बैजल और मैनेजर।

"कहिए, क्या दिक्कत है आपको ?" बिना भूमिकाका एक प्रश्न !

"सरकार, हम कामको जल्दी निमटानेके लिए 'पास' से थोड़ा-सा ज़्यादा सामान लाद लेते हैं और १-२ कुली ज़्यादा बैठा लेते हैं, तो पुलिसवाले हमारा चालान कर देते हैं।" यह सामने आई हड़तालकी पृष्ठभूमि और तुरन्त पड़ी इसपर एक करारी चोट—"हम कानूनके खिलाफ कुछ नहीं कर सकते; यह कानूनकी बात है।"

यही अवसर है कि ठेले वाले हड़तालकी बात कहें, पर बैजल उन्हें ऐसा अवसर दें, तब तो ! वे तुरन्त पूछते हैं—"इन्हें जानते हो ?"

"जी हाँ, ये रोडवेजके मैनेजर साहब हैं।"

"देखिए, इनके पास फालतू गाड़ियाँ हैं और ये सारा राशन ढोनेको तैयार हैं। आप यदि काम नहीं करना चाहते तो मैं दबाव नहीं डालता, आप छोड़ दीजिए !" बैजलने पूरे जोरसे यह कहा कि ठेले वालोंका ज़ोर ढीला पड़ गया और वे काम करनेको तैयार हो गये।

बातको निपटानेकी, मामलेको सुलझानेकी, उनकी नीतिका सार यह कि वे बहस करके या शक्तिका दबाव डाल कर विरोधीमें जिद उभरनेका अवसर नहीं आने देते, बल्कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते कि विरोधी सोचने लगता—हाँ, यही ठीक है कि इनकी बात मान ली जाये !

इस नीतिकी पूर्णता यों कि विरोधी जब बात माननेको मजबूर हो जाता, तो लगता कि बैजल अब अफसर नहीं, एक मनुष्य हैं। जीतकर

इसी दिशाकी एक बात और—वे जहाँ रहते हैं, अपनी अलग टीम नहीं बनाते, सारे महकमेको ही अपनी टीम मानते हैं। फल यह होता है कि सब उन्हें समान रूपसे अपना मानते रहते हैं, पर इस समान अपनत्वमें भी वे बुरोंका ताड़न और भलोंका लालन बराबर करते रहते हैं और इस तरह सबका केन्द्र बने रहते हैं।

इस केन्द्रकी भी एक अपनी विशेषता है कि आप जब चाहें उन तक सीधे पहुँच सकते हैं, उन्हें पूरा पा सकते हैं, पर तब भी आप उनका दुरुपयोग नहीं कर सकते-उनका भेद नहीं पा सकते। उनमें सरलता और गम्भीरता, दया और दण्डकी वृत्तियोंका सुन्दर संगम है।

उन्हें बहुत निकटसे देखकर मैंने जाना कि वे खूब जानते हैं कि हर सफलतामें बहुतोंका भाग होता है और प्रत्येकको श्रेयका भाग बाँटनेमें वे इतने उदार हैं कि कभी-कभी अपना भाग भी दूसरोंके हिस्से लगा देते हैं। उनके हाथों अपनेको सौंप उनके साथी कभी घाटेमें नहीं रह सकते, सबका यह विश्वास ही उनके गहरे प्रभावका रहस्य है।

१९५० में ठीक कुम्भके दिन सुबह ही सुबह एक दुर्घटना हो गई, जिसमें ३०-३२ नर-नारी मर गये। दुर्घटनाकी एक-एक सम्भावना पर विचार करके उसका उपाय सोच लिया गया था, फिर भी दुर्घटना हो गई। बात यह हुई कि बिना पहली सूचनाके एकके बाद एक तीन स्पेशल ट्रेनें हरद्वार स्टेशन पर आ गईं। इनसे कोई १५००० यात्री उतरे और ये सब ब्रह्मकुण्डकी ओर चल पड़े।

यात्रियोंको रोकनेके लिए ब्रह्मकुण्डके पास लोहेका जो मजबूत दरवाज़ा बनाया गया था, उस पर इस भीड़का दबाव आया और उसके टूटनेका खतरा पैदा हो गया। बैंजलने आश्चर्यजनक रूपसे इस खतरेको भाँपा और इसे रोकनेके लिए वे ऊँचे 'कंट्रोल' पर चढ़ गये, जहाँसे वे पूरे मेलेमें नियुक्त अधिकारियोंको माइक द्वारा आदेश दे सकते थे और उन्होंने

स्टेशन, कनखल रोड और ललिता रौ पर नियुक्त अधिकारियोंको आदेश दिया कि वे एक भी आदमीको ब्रह्मकुण्डकी ओर न बढ़ने दें और पूरी भीड़को रोड़ियों (गंगा पार) क्षेत्रमें उतार दें।

इसी बीच लौहद्वार पर भीड़का ज़ोर और बढ़ा। उसका उपाय था लाठी चार्ज, पर लाठी चार्जकी मनाही थी, इसलिए वहाँ नियुक्त अधिकारियोंने द्वार खोल दिया। भीड़ आगे बढ़ी, पर अगली पंक्तिके लोग पीछेका रेला न सह सके और गिरकर कुचले गये। बादमें विशेषज्ञोंने माना कि बैजलने जो कुछ किया, वे वह न करते, तो कमसे कम ५०० आदमी मर जाते। फिर भी सरकारने इस दुर्घटना पर एक जाँच कमेटी बैठा दी।

लौहद्वार खोलनेवाले अधिकारियोंने मान लिया कि वे गये, उनका भविष्य समाप्त हुआ, क्योंकि जाँच कमेटीके सदस्य जानते ही थे कि बैजलका इसमें कोई दोष नहीं है। उनकी निर्दोषताको फ़ाइलपर लानेके लिए बैजलसे पूछा गया—"वह दरवाज़ा किसने खोला?" प्रश्न सुनते ही उन अधिकारियोंका मुँह सफेद हो गया, क्योंकि इसके उत्तरमें ही उनकी मौत बैठी थी।

बैजलने नम्र स्वरमें कहा—"प्रश्न पूछा गया है कि वह दरवाजा किसने खोला? मैं चाहता हूँ कि इसे यों पूछा जाय कि वह दरवाजा किसके हुक्मसे खोला गया?

तब मेरा उत्तर है कि वहाँ एक ही हुक्म था और वह मेरा हुक्म था, इस हालतमें दरवाज़ा किसीके भी हाथने खोला हो, वह मेरे हुक्मसे खोला गया और उसकी पूरी जिम्मेदारी मुझ पर है।"

उत्तर सुनते ही दण्डके स्टेशनकी ओर दौड़ती शक्तिकी ट्रेन क्षमाके स्टेशनकी ओर मुड़ गई और सारा वातावरण धूपकी गन्ध और दीपकके प्रकाशसे भर-भर उठा। मैंने देखा, वे अधिकारी स्तब्ध हो गये और उनमें

से दोकी आँखोंमें तो आँसू भर आये। ये थे विस्मयके आँसू, ये थे प्यारके आँसू, ये थे कृतज्ञताके आँसू !

रातमें मैंने पूछा--"यह खतरा आपने क्यों मोल लिया ?"

दोनों हाथ मेरे गलेमें डाल लिये। बोले—"भाई साहब, जो प्रधान अपने मातहतोंका खतरा अपने सिर नहीं ले सकता, उसे अपने मातहतोंसे यह आशा करनेका क्या अधिकार है कि वे उसके आदेशपर अपनेको खतरेमें डालनेके लिए सदा तैयार रहें ?"

सुनकर सोचा---बैजल आदर्श पुलिस-अफसर नहीं, पुलिस-अफसरका आदर्श हैं। वे नवयुगके पुलिस-अफसरका नमूना हैं--मौडल हैं। असलमें उनका सर्वोत्तम जीवन परिचय ही यह है।

जन-सम्पर्क और जन-शिक्षण दोनोंकी कलाके वे पण्डित हैं, पर इसके लिए वे अपने महकमेका, सरकूलर और नोटिसका, सहारा नहीं लेते, एक नेताकी तरह सीधे जनतामें पहुँचते हैं। उनके जल्सोंका देहातों में वही रंग-रूप रहा है, जो १९३० में कांग्रेसके जल्सोंका था। इन जलसोंमें वे जनताको डाकुओंके विरुद्ध अभियानकी शिक्षा देते रहे हैं, आपसी मुकदमोंकी नसें तोड़ते रहे हैं, राष्ट्रीय-चरित्रका निर्माण करते रहे हैं, बदमाशोंको भलेमानुषी-जीवनका निमंत्रण देते रहे हैं।

पुलिस विभागको शिक्षित करनेके लिए भी वे खुले जल्से करते थे। कुम्भकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें भी उन्होंने कई जल्से किये थे और पुलिस-अधिकारियोंको व्यवस्थाकी छोटीसे छोटी बात बताई थी। उनके भाषणको सुनकर लखनऊके एक पत्रकारने कहा था—जब बैजल साहब जनताके साथ व्यवहार करनेकी बात कह रहे थे, तो वे इतने भावपूर्ण हो उठे थे कि जैसे कोई पुत्र अपनी बुढ़िया माको पड़ोसियोंके साथ मेलेमें भेज रहा हो और उनसे बार-बार माका ध्यान रखनेकी बात कहकर भी स्नेहके कारण निश्चिन्त न हो पा रहा हो।"

उनकी इसी सतर्कताने हरद्वार कुम्भको हमारे देशके सामूहिक-जीवनमें नैतिक आचरणकी मार्गदर्शक प्रदर्शिनी बना दिया था।

*　　*　　*　　*

बैजल अब इस संसारमें नहीं हैं। वे मेरठमें सीनियर पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट थे कि एक मोटर दुर्घटनामें उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्युने साक्षी दी कि उनका जीवन कैसा था। जिस स्थानपर दुर्घटना हुई, उसके आसपासके देहातियोंने बातकी बातमें बिना किसी नेतृत्वके ४२ बीघे जमीन और ३० हजार रुपये दान दे, बैजल स्मारक हाई स्कूलकी स्थापना की और इस प्रकार उनकी स्मृतिपर अपनी भाव-भरी श्रद्धाके फूल बरसाये।

बैजलका व्यक्तित्व सर्वांगपूर्ण था। गोरा वर्ण, भरी पूरी देह, बड़ी-बड़ी आँखें और हँसमुख चेहरा। वे आदर्श पुलिस अफसरके साथ आदर्श मित्र, आदर्श पति और आदर्श पुत्र भी थे। उनके पिता श्री मुरारीलाल सदर कानूनगो रहे थे और उनका पद पिताके पदसे बहुत ऊँचा था, पर अपने पिताका अत्यन्त सम्मानके साथ वे अपने मित्रोंसे परिचय कराया करते थे।

एक बार उनके पिता बीमार हो गये, तो उनकी सेवाका सारा काम उन्होंने अपने हाथों किया। उन्हें वे भोजन तक अपने ही हाथोंसे कराते थे। अपनी माताके पास बैठकर कुछ देर गपशप लड़ाना, पूछ-ताछ करना उनका प्रतिदिनका आवश्यक काम था।

अपनी गुणमयी पत्नी श्रीमती प्रकाशवतीको जब वे लाड़से 'पाशो' कहकर पुकारते, तो गृहस्थीकी आत्माका सौंदर्य थिरक-थिरक उठता। अपने बच्चोंसे वे घुल-मिलकर बातें करते, तो माण्टेसरी स्कूलके अध्यापक-से मालूम पड़ते।

वे एक वफादार इंसान थे; मुल्कके वफादार, परिवारके वफादार, मित्रोंके वफादार--कौन जानता था, उनकी उम्र इतनी बेवफा होगी !

वे गुणी थे, गुणज्ञ थे, सेवाकी उनमें निष्ठा थी, सत्यके लिए कष्ट सहनेकी श्रद्धा थी, स्वभावकी सरलता थी और राष्ट्रीय निर्माणके स्वप्न उनके दिल-दिमाग़में छाये हुए थे। वे ख़ूबियोंसे भरपूर थे—ख़ूब थे !

डाक्टर टिंचरप्रसाद

सहारनपुर जेल,

१६३० के उत्साह-आनन्द भरे दिन

और एक सालकी मेरी पहली क़ैद !

"जेलके डाक्टर साहब मेरे रिश्तेदार हैं। मैंने उनसे कह दिया है। वे जो भी हो सकेगा, आपको आराम पहुँचायेंगे। कभी कोई ज़रूरत हो, तो आप उनसे निःसंकोच कह सकते हैं!" एक मित्रने जिस दिन यह समाचार भेजा, उसी दिन शामको एक 'पक्का वार्डर' मुझे 'चक्कर' की बैरकसे बाहर बुला लेगया।

डाक्टर साहब कमरेके बाहर अपनी कुरसी पर बैठे थे और पास ही एक छोटी-सी मेजपर १२-१३ बोतलोंमें दवाएँ रक्खीं थीं। उनका क़ैदी-कम्पाउण्डर भी वहीं था। देखा तो उन्हें पहले भी था, पर आज पाससे देखा और ग़ौरसे भी। लम्बा कद दलदलाते, आँखों पर चढ़े जाते-से गाल, थलथलाता पेट, सड़क कूटते-से पैर और इंसानकी हड्डियों पर चढ़ी हाथी की-सी खाल।

देखते ही मुझे वे अपने कमरेमें ले गये और धीरे-से बोले—"देखो बेटा, तुम किसी बातका फिकर मत करना। यह जेलर बड़ा हरामी है, पर यह तुम्हारा क्या बिगाड़ सकता है। वह तुम्हें अगर चक्कीमें जोड़ेगा, तो मैं तुम्हें फौरन बीमार बना दूँगा। बस फिर अस्पतालमें पड़े दूध पिया करना।"

वे यह सब कहते ही कमरेसे बाहर चले आये, तो मुझे भी बाहर आना पड़ा, पर आते-आते मुझे कुछ ऐसा लगा कि भेड़ियोंका सरदार किसी मृग-छौनेको गोद लेनेका प्रस्ताव पेश कर रहा है!

बाहर आते ही बोले—"बेटा, जेल आकर तुम तो अमर ही हो गये, यों समझो। संस्कृत तुम जानते ही हो, वैद्य तुम्हें मैं बना दूँगा, बस मजेके साथ महीनेमें चार सेर चाँदी कमाया करना!"

"पर आप तो डाक्टर हैं डाक्टर साहब!" मैंने पूछा, तो बोले—"हाँ, मैं डाक्टर हूँ, पर बेटा, मैं जेलमें डाक्टर हूँ, अपने गाँवमें वैद्य हूँ और मेरी सुसरालमें मुझे सब हकीम जी कहते हैं। मैंने गुरुओंसे सब विद्याएँ पढ़ी हैं और बेटा, ज्ञानीके लिए तो सब विद्याएँ एक ही हैं। वैद्यकमें जो कर्पूर है, डाक्टरीमें कैम्फर है, यूनानीमें वही तो काफूर कहलाता है। अरे भाई, दवा तो एक ही है!"

स्वयं जरा बनकर, उन्हें बनाते हुए मैंने कहा—"यह तो बड़े भाग्यकी बात है कि आप जैसा गुरु मुझे जेलमें मिल गया, पर यह तो बताइये कि पुस्तकोंका क्या प्रबन्ध होगा? मेरे पास तो वे हैं नहीं, क्या आप मुझे पढ़नेको अपनी पुस्तकें दे देंगे?"

मेरे द्वारा गुरुताकी इस स्वीकृतिसे वे खिल पड़े और तब बोले—"बेटा, पुस्तकोंकी ज़रूरत ही क्या है। मैं वैसे ही तुम्हें धन्वन्तरि बना दूँगा; और मैंने ही कौनसी पुस्तकें पढ़ी हैं!"

[२]

बातचीत करके मैं अपनी जगह लौट आया, पर बराबर मेरे मनमें डाक्टर घूमता रहा—जेलर मुझे चक्कीमें जोड़ देगा, तो वह मुझे फौरन बीमार बना देगा और बस फिर मैं अस्पतालमें पड़ा दूध पिया करूँगा; आखिर क्या मतलब इस बातका? और यह मुझे बिना क़ुरानके ही मौलवी कैसे बना देगा?

प्रश्न उठे, उठे ही रहे—उन्हें समाधान न मिला। उस दिन तुलाई का दिन था, हर कैदी तोला जाता और उसका तोल हिस्ट्री-टिकट पर लिखा

जाता। यह जेलकी स्वास्थ्य-परीक्षा थी! हम सब तुल रहे थे कि एक चोर क़ैदीने धीरेसे कहा—"डाक्टर साहब, मुझे चक्की पीसते महीनों हो गये, अब तो मुझे अस्पतालमें भेज दो।"

क़ैदी-कम्पाउण्डरने कहा—"अबे; बिना सीरनी-शक्करके ही अस्पतालमें जाना चाहता है?"

"नहीं, नहीं, दो रुपये!" कैदीने कहा।

"अबे, तो कर डाक्टर साहबका जूता गरम!" कम्पाउण्डरने राह दिखाई और क़ैदीने दो रुपये डाक्टर साहबके बूटमें ठूँस दिये—ज़रा इधर-उधर देख कर, पर डाक्टर साहब सन्तुष्ट न थे, इस दक्षिणा पर वरदान देनेको तैयार न थे। कम्पाउण्डरने सिफारिश की, क़ैदीने दो रुपयेकी गरमी और पहुँचाइ और तब डाक्टर साहब प्रसन्न हो बोले—"अच्छा-अच्छा सब ठीक हो जायगा" और उन्होंने उसके १२८ पौण्ड वज़नको उसके टिकटमें १२० लिख दिया—धीरेसे दी गई इस हिदायतके साथ कि ३-४ दिन तक रोज़ अस्पताल आना।

दूसरे दिनसे क़ैदी अस्पताल जाने लगा। डाक्टर साहबने उसे पेचिश का बीमार लिखा और इस तरह चौथे दिन वह अस्पताल पहुँच गया। जेलका अस्पताल, जो असली बीमारोंके लिए रौरव नर्क, तो इन नकली बीमारोंके लिए किसी राज्यका गैस्ट हाउस और तब मैं समझा कि यह है डाक्टर साहबके द्वारा फौरन बीमार बना देने वाली उपयोगी कलाका नया व्याकरण!!

[३]

उनकी चिकित्सा-पद्धति भी अद्भुत थी। पूरी डिस्पैंसरी वे १२ बोतलोंमें बंद रखते थे। हर बोतल पर कैलेण्डरसे काटकर १,२,३,४ आदिके नम्बर लगे रहते थे; क्योंकि उनके क़ैदी कम्पाउण्डरके लिए किसी भी दवाका

नाम समझना सम्भव न था और स्वयं डाक्टर साहब भी नुस्खा लिखनेमें लगे समयको नेशनल लॉस, यानी राष्ट्रीय अपव्यय मानते थे।

आम तौर पर वे रोगीको छूते न थे, दूरसे उसे देख लेना ही काफी समझ लेते थे। उनका थर्मामीटर सप्ताहों और स्टैथिस्कोप महीनों उनके घर पर ही पड़ा रहा करता था। जिस दिन वे उन्हें जेबमें डाल लाते, उस दिन दो चार बीमारों, खासकर कांग्रेसी बीमारोंकी बगल-छातीमें उनका प्रयोग ज़रूर करते थे।

एक दिन मुझे हल्की हरारत थी! थर्मामीटर लगाया तो उछल पड़े और बोले—"अरे, तुम्हें तो १०४ बुखार है!!" मैं हँस पड़ा। बात यह हुई कि उन्होंने बिना उतारे ही मेरी बगलमें उसे टेप दिया था। स्टैथिस्कोप लगाते समय वे इसपर कोई ध्यान न देते कि वह कानोंमें लगा है या गलेमें ही झूल रहा है, बस छाती पर छुआ देते और भीतरका पूरा हाल जान जाते!

बीमारोंको देख-देखकर वे दवाओंकी मेज़के पास एक लाइनमें बैठाते जाते और जब सबको देख चुकते तो किसी क़ैदीसे माँगकर एक बीड़ी सुलगाते और तब कम्पाउण्डरको पुकारते—नम्बर एक-नम्बर सात, नम्बर दो-नम्बर नौ, इसका अर्थ होता है कि नम्बर एकके बीमारको नम्बर सात की दवा दो और नम्बर दोके बीमारको नम्बर नौकी। बस, यों ही वे सबको निमटा देते और तब अस्पताल जाते।

अक्सर ऐसा भी होता कि वे कहते—नम्बर पांच-नम्बर दस और कम्पाउण्डर कहता—"डाक्टर साहब, नम्बर दस तो निमट गई" और वे बोतलों पर एक नज़र डालकर कहते—"अबे, वो रक्खी है पीली बोतल" पर कम्पाउण्डर उनका इशारा न समझ पाता और कह बैठता—"यह तो नम्बर १२ है डाक्टर साहब!" सुनकर वे एक बार फिर बोतलको घूरते और तब कहते—"हाँ, हाँ, १२ नम्बर दे, वो भी फायदा करता है।"

कम्पाउण्डर क़ैदियोंके खुले मुँहमें, जो आप ही आप ऊपर उठ जाते,

अलमोनियमका एक छोटा डब्बू दवा, एकदम उसी तरह डालता चला जाता, जैसे दक्षिण भारतके लोग लोटेसे पानी पीते हैं।

कौन बीमार उनके अस्पतालमें कितने दिन रहे, यह न उनके हाथमें था, न बीमारीके। इसकी कुंजी यह थी कि बीमार क़ैदी कितनी बार उनका जूता गरम करता है।

सोमवारको जब सिविल सर्जन परेड पर आते, तो वह अपने मुस्टण्ड बीमारोंको पहले ही इस तरह और ऐसी जगह लिटाते कि वे पूरे बीमार दिखाई देते, पर साहबके जाते ही वे छल गें मार कर उठते और अस्पताल में इस तरह गुल-गपाड़ा मचाते कि असली बीमारोंको जी थामना मुश्किल हो जाता।

कुछ बीमारोंको वे हमेशा दूध दिये रहते। मान लीजिए सब बीमारों के दूधका जोड़ तीन सेर होता, तो इस तीन सेरमें से ठेकेदार एक सेर दूध डाक्टर साहबके घर दे देता, वहींसे लेकर एक सेर पानी उसमें मिला देता और फिर तीनका तीन सेर बना यह दूध बीमारोंके लिए अस्पताल पहुँच जाता। ठेकेदार और डाक्टरके साथ अस्पतालका इंचार्ज कम्पा-उण्डर, वार्डर और रसोई-घरका इंचार्ज भी इस दूधमें अपनी चुङ्गी लगाता। इस तरह ग्वालेके घरसे बीमारके गले तक पहुँचते-न-पहुँचते यह दूध गङ्गा-जमना-सरस्वती तीनोंका सङ्गम पा लेता।

एक बार मैंने कांग्रेसी बन्दियोंके प्रवक्ताके रूपमें इस बातको ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तो बोले—"तुम विद्वान् होकर मूर्ख बन गये बेटा! अरे भाई, दूध आदमीकी खूराक ही नहीं है। हाँ, इसके पीनेसे बीमारको ज़रा तसल्ली रहती है कि मुझे अच्छी खुराक मिल रही है। इस हालतमें ऐसा ही पनमेलिया और ऐसा ही निखालिस!"

ज़रा रुक कर हाईकोर्टकी नजीर पेश करते हुए बोले—"महात्मा गान्धीने तभी तो गाय भैंसका दूध छोड़कर बकरीका शुरू कर दिया और

द्रोणाचार्यने तो अपने लड़केको आटा घोल कर ही पिला दिया था। है न सिर्फ तसल्लीकी ही बात !"

मुझे मानना पड़ा कि डाक्टर साहब उद्भट तार्किक हैं।

डाक्टर साहबका स्वरूप जितना कुरूप था, स्वर उनका था उतना ही मधुर। बूढ़े क़ैदियोंको भी वे बेटा कहा करते थे और काले पानीसे लौटे बुजुर्ग रहमान खां ने एक बार ठीक ही कहा था कि डाक्टर साहबका बाप अगर मौतके घरसे लौट आये, तो वे उसे देखते ही कहेंगे—"आओ बेटा! कहो, अच्छी तरह तो रहे ?"

[४]

डाक्टर साहब गज़बके निन्दैल; वे खुद कहा करते थे कि "हमें सुबह ६ से कोई शामके ६ बजे तक जोड़े रक्खे तो कोई बात नहीं, पर रातमें कोई जगाये, तो ज़हर दिखाई देता है।"

फिर यह जागना कोई आसान काम न था। उनकी नींदके डोरे इतने मज़बूत थे कि वे कानके पास ही बजते घड़ियालकी टंकारसे तो हिलते भी न थे। बात यह थी कि सोते समय वे इतने ज़ोरसे खर्राटे भरते थे कि नये मेहमानको घरमें आटा पीसनेकी चक्की लगी होनेका ख्याल होता था। फिर भी उन्हें जगानेकी क़सम खाकर कोई उनसे जूझ ही पड़े, तो वे एक घण्टे में आँखें खोलते थे और उनका पहला प्रश्न यह होता था—"क्यों, क्या हुआ ? कोई क़ैदी भाग गया क्या ?"

और जब उन्हें किसी बीमारकी हालत खराब होनेका समाचार दिया जाता, तो वे कहते—"अजब अहमक आदमी हैं ये लोग! अरे भाई, अगर बीमार मर रहा है, तो मैं कोई सिगनल तो नहीं हूँ कि मेरे खड़े होते ही मौतकी गाड़ी रुक जायेगी और अगर बीमारी बढ़ गई है तो तुम अपनी हाय-हायकी रफ्तार ज़रा और तेज़ कर दो। भला मैं उठकर ही इसमें क्या करूँगा।"

इख़लाकी क़ैदी लाख बीमार हो, उन्हें जगानेकी जुरअत कर ही न सकता था; क्योंकि वे पहले ही सबसे कहे रखते थे--"तुम हमें रातमें जगाएगा, तो हम तुम्हें दिनमें भगाएगा !"

अपनी इस इंगलिस्तानी घोषणाका भाष्य वे गर्वके साथ यों किया करते थे--"आखिर मैं डाक्टर हूँ, जिसे बीमार लिख दूँ वो बीमार और जिसे तन्दुरुस्त लिख दूँ वो तन्दुरुस्त। अब बेटा, बटो बान, कूटो मूंज, चलाओ चक्की; अस्पतालमें बहुत दिन कुंवर जी बन लिए, यह ताकत है बेटा मेरी कलममें !"

क़लमको इस ताक़तके बावजूद किसी कांग्रेसी क़ैदीके कारण उन्हें उठना ही पड़ता, तो दूसरे दिन बराबर वे अङ्गड़ाइयाँ लेते और बक-झक करते रहते। बूढ़े रहमानने उनसे कहा--"सरकार, किसी दूसरी जगह तबादला करा लो, यहाँ तो अब रोज़ यही हाल रहेगा।"

सुनकर उन्होंने सिर पर हाथ रख लिया और तब गरम गलेको सांसकी ठण्डक देते हुए बोले—"बेटा रहमान, तबादला कहाँ करालूँ, यह दीमक तो सारे मुल्कमें फैली हुई है।"

[५]

आधी शताब्दीके लगभग पिता और पुरोहित द्वारा दिये नामका उपभोग करनेके बाद एक दिन अचानक उनका नया नामकरण कर दिया गया—डाक्टर टिंचर प्रसाद।

इसकी भी एक कहानी है। लीजिए उसे भी सुन लीजिए।

ठाकुर अर्जुन सिंहकी तिल्ली जेलमें बढ़ गई और वे कुछ कमज़ोर-से हो चले, तो साथी चिन्तित हुए। वे खुद इतने खामोश कि मर भी जायँ, तो अपने लिए किसीसे कुछ न कहें। एक दिन घेर-घेप कर उन्हें डाक्टर साहब तक लाया गया। देखकर बोले—"कोई खास बात नहीं है, तीन-

चार दिनमें ठीक हो जायगी" और कृपालु यहाँ तक हुए कि स्वयं उठकर टिंचर-आयोडीनकी एक फुरैरी उन्होंने ठाकुर साहबके पेट पर फेर दी।

मैंने बादमें उनसे कहा—"आप भी कमाल करते हैं डाक्टर साहब, तिल्ली पेटके भीतर और टिंचर उसके ऊपर ?"

बोले—"तुम कांग्रेसियोंकी जेलमें आकर अक्ल मारी गई है। अरे भाई, टिंचर तो वह चीज़ है कि तिल्ली तो चीज़ क्या है बेचारी बिल्ली को पिघला दे; हाँ आपके पेटमें उदकती बिल्लीको !"

तिल्ली और बिल्लीके इस अनुप्रास पर हम लोग उस दिन खूब हंसे, पर कुछ दिन बाद तो सचमुच कमाल हो गया। बात यह हुई कि रातभर धर्मवीर वेदालंकारकी जाड़में भयंकर दर्द रहा और न वे सोए, न हमें सोने दिया। सुबह डाक्टर साहबने उन्हें देखा और एक बड़ा-सा फाया टिंचरमें भिगो-कर जाड़में रख दिया। टिंचर और मुँहमें ! कुछ ही मिनटोंमें उनकी जीभ, मसूड़े और कल्ला जल गए और हालत यह हो गई कि देखकर साँस रुके !

सिविल सर्जन डा० होम्ससे शिकायत की गई तो उन्हें विश्वास ही न हो, पर रोगीको देखा, तो वे आपेसे बाहर हो गये और चिल्लाकर बोले—"तुम गधे हो या सूअर ! डाक्टर, यह फाया तुमने लगाया है इनकी जाड़में ?" उन्होंने पूछा, तो डाक्टर बोले—"सर, ये कह रहे थे कि दर्द न रुका, तो मैं मर जाऊँगा। सर, इनसे पूछ लीजिए कि इनका दर्द बिल्कुल रुक गया है या नहीं ?"

वे इस समय भी पूरे आत्म-विश्वासमें थे। सुनकर साहब तो हँसा ही, धर्मवीर जीके जले मुँह पर भी मीठी मुसकान खेल गई।

साहबने अपनी मोटर भेज अस्पतालसे दवा मंगवाई, दूधका आदेश दिया और हल्की-सी क्षमा मांगी। चलते समय डाक्टरको उन्होंने एक

दड़बड़ी और दी--"तुम डिस्पैन्सरीमें रखने लायक नहीं, चरसमें जोड़ने लायक हो।"

गोरे अफसरकी गर्जनाको डाक्टर साहब धीरजसे पी गये, पर बाहर आते ही निर्लेप भावसे बोले--"तुम्हें क्या पता कि टिंचरमें क्या-क्या गुण हैं। मेरा बस चले, तो इन सब कांग्रेसियोंको एक-एक गिलास पिला दूँ।"

और जाने कब किधरसे उनका नया नाम निकला कि चारों ओर फैल गया, जैसे वे जन्मसे ही डाक्टर टिंचर प्रसाद थे।

डाक्टर टिंचरप्रसाद पूरे पशु थे, पर निश्चय ही मनुष्य-पशु। क्या मतलब? यही कि उनके मनुष्यमें पशु छिपा था, तो उनके पशुमें कहीं-न-कहीं मनुष्य भी छिपा था।

एक बार उन्होंने एक ग्रामीण विधवाके इकलौते बेटेकी बिना किसी स्वार्थके, शुद्ध दयाभावसे ऐसी मदद की थी कि वह ताऊ चाचाओंके षड्यंत्रसे फाँसी पाते बच गया था। वे चाहते तो इस मामलेमें काफी रूपये बना सकते थे, पर जब मैंने यह कहा तो बोले—"कमाई तो होती ही रहती है बेटा।"

ऐसे ही एक दूसरे मौके पर उन्होंने कहा था—"कैदियोंसे १०० कमाता हूँ, उनपर २-४ खर्च भी कर दूँ, तो क्या बात है?" कभी-कभी अपने अस्पतालमें बनवाकर ऐसे मौके पर कालकोठरीमें चाय भेज देते थे कि हमें वे कर्ण और दधीचि ही दिखाई देते थे।

सचाई यह है कि आदमी तो अपने मूलमें हमेशा अच्छा ही होता है, पर उसकी परिस्थितियाँ उसे बुरा बना जाती हैं। डाक्टर टिंचरप्रसाद भी अपनी परिस्थितियोंका एक विचित्र निर्माण थे!

देशके हीरे, मोती, लाल

"साधूसिंह, तुमने दफा चवालीस तोड़ी, तुम्हें मंजूर है ?

"मैं क्यूँ तोड़ता उसै ?"

कचहरीमें एक सन्नाटा-सा छागया।

१६३० का सत्याग्रह चल रहा था। देशमें बलिदानकी भावना जाग्रत हो उठी थी। स्वयंसेवक खुशी-खुशी गिरफ्तार होते, अदालतमें उन्हें पेश कर पुलिसका आदमी उनके अपराधकी घोषणा करता; मैजिस्ट्रेटके पूछने पर वे हाँ कहते, सजा सुना दी जाती और यों १५ मिनटमें मुकदमा निपट जाता। न इसके लिए पुलिस कुछ तैयारी करती, न कोर्ट-इंस्पेक्टर कोई नज़ीर टटोलता; यहाँ तक कि पुलिस कोई गवाह भी साथ न लाती ! ठीक ही तो है कि जब अपराधीको स्वयं अपराध मान्य हो, तो प्रमाणोंका संग्रह कोई क्यों करे ?

उस दिन साधूसिंहने अपना अपराध स्वीकार करनेसे इन्कार कर दिया, तो परम्पराका यह बहता प्रवाह रुक-सा गया; जैसे राह चलते आदमीके पैरमें अचानक काँटा चुभ जाय। मैजिस्ट्रेट प्रमाणोंका अभाव कहकर साधूसिंहको छोड़ दे, तो अंग्रेज कलेक्टरकी ऐसी झाड़ पड़े कि तरक्कीके कई मनसूबे झड़ जायँ और मुकदमेको मुलतवी करे, तो उसका कारण क्या बताये ?

चन्द्रधर जियाल, एक घाघ मैजिस्ट्रेट; उसने साधूसिंहको गौरसे देखा—एक सीधा, अनपढ़ किसान। सोचा—यह झूठ तो बोल नहीं सकता, फिर बात क्या है ?

पूछा—"मिस्टर साधूसिंह, तुम्हें पता था कि देवबंदमें दफा चवालीस लगी हुई है ?"

देहाती उच्चारणमें उत्तर मिला—"लगी होगी, मैं तो सारे बजारोंमें नारे मारता फिरा, मुझै तो वा [वह] कहीं दिक्खी नी।"

जियाल साहब मुसकराये—इस चट्टानके बीच तो काफी रास्ता है। पूछा—"साधूसिंहजी, तुम सोमवारको अपने गाँवसे देवबंद आये। फिर तुमने क्या किया ?"

उत्तर मिला—"डिप्टीसाब, तम मुझै बात्तोंमें ना उलझावो; मैंन्ने (मैंने) और चाहै जो करा हो पर थारी (तुम्हारी) वा दफै चवालिस नी तोड़ी। मैं गाँवसै आकै (आकर) आसरममैं गया, ह्वाँ (वहाँ) रात मैं म्हारे पंडजी (पण्डितजी) नै उपदेश दिया अक (कि) महात्मा गांधी का हुकम है—गाली-गुस्सा, तोड़-फोड़ अर (और) मारपीटसे बचना चाहियै। फेर भला मैं किक्कर (कैसे) तोड़ देता दफै चवालिस। सची बात कहूँ डिप्पी साब, बुरा तो तम मानियो ना, पर यो थारा पुलसवाला बिलकुल झुठा (झूठा) है।"

मैजिस्ट्रेटको बहुत जोरसे हँसी आरही थी, पर उसका मतलब किनारे लग रहा था। अपनेको सम्भालकर उसने पूछा—"ठीक है-ठीक है, फिर मंगलको तुमने क्या किया साधूसिंह ?"

"अजी, मैं करता क्या, बस सतूत (शहतूत) की एक डंडी पै काँगरैस की झंडी बान्ध कै महात्मा गान्धीकी जै बोलता सारे बजारोंमैं चक्कर काट्टण (काटने) लगा। लो, थारे तै सच बताऊँ, मैं सारै फिरा, पर कसम गंगाजी की जो मुझै वा दफै चवालिस कहीं भी मिली हो। झूठ मैं बोलता नी, फेर भी वा टूटगी हो, तो मुझै पता नी! तम उसके वास्तै मुझै माफ कर दो।"

मैजिस्ट्रेटके लिए इतना काफी था। उसने फैसला लिखा—"माफी माँग लेनेके कारण अभियुक्तको मुक्त किया जाता है।" साधूसिंह अवाक् और उसी दिन फिर आश्रममें—"पण्डजी, वो डिप्टी मुझै बोहोत उलझात्ता

रहा, पर मुझै तमने पहले ही सारी बात्ताँ समझा दी थी। मैंन्ने कहा, तोड़ना तो तोड़ना, मैन्ने तो उसे देक्खा भी नी।"

मैंने साधूसिंहको उसके छूटने का रहस्य बताया, तो मेरा खयाल था कि वह सकुचायेगा, पर वह पूरे उत्साहसे बोला—"तम मुझै कलको एक झण्डी होर (और) दियो; मैं देक्खूंगा अब कै उसकी नबज।"

और दूसरे दिन उसने फिर दफा चवालीस तोड़ी और पकड़ा गया। मुकदमेमें उससे फिर पूछा गया—"तुमने दफा चवालीस तोड़ी?" तो ज़ोरसे बोला—"तोड़ी क्या ऐसी-कैसी, नारे मार-मार कै उसकी एक्कक (एक-एक) हड्डी ऐसी करदी अक (कि) अब बिचारी महीना-बीस दिन खाट पै पड़ी दूध-हल्दी पीवैगी।"

मजिस्ट्रेट कुछ हँसा, कुछ झेंपा और उसे दो मासकी सख्त सजा लिखकर उठ गया। मैंने उस दिन भी सोचा था और आज भी सोच ही रहा हूँ कि साधूसिंहको गुलामीका ज्ञान न था, स्वतंत्रताका भान न था, न उसे क्रांतिका पता था, न गांधीवादका; फिर वह कौन-सी चीज़ थी, जो उसे उठाये फिर रही थी?

[२]

मेरा प्रश्न अभी प्रश्न ही बना रहता है कि देखता हूँ, ये चले आ रहे हैं, मेरी स्मृतियोंकी क्यारी पर टहलते-घूमते एक सज्जन। पैरमें मामूली जूता, जिसपर पॉलिश उसके निर्माताने ही कभी की होगी, साधारण कपड़े का धोती-कुरता, जिसने धोबीका घर शायद ही कभी देखा हो, सिरमें आगे की खोपड़ी सपाट, पीछे गुद्दीसे कनपटियों तक चढ़ी बालोंकी एक पट्टी और उसमें लटकती बिना गाँठकी चुटिया!

कौन हैं ये? १९३० के आन्दोलनमें सहारनपुर जेलकी बैरक नम्बर १० में मैंने उन्हें देखा, तो एक साथीसे पूछा। उत्तर मिला—ये हैं चुटिया-परसाद!

दाहिने कान पर उनके कलम और बगलमें एक रजिस्टर, मैंने कहा—"ठीक ठीक बताओ ?"

"मेरा यकीन नहीं है, तो किसी और से पूछ लो।" वे बोले और सचमुच मैंने जिससे पूछा, उसने उनका यही नाम बताया। कई दिन बाद मालूम हुआ कि उनकी चुटियाके कारण उनका यह नाम पड़ गया है। वैसे उनका नाम है श्री शिवनारायण और वे नायब जेलर हैं। मैंने सोचा—बहुत सीधा आदमी है। साथ ही यह भी कि हमारा सारा जीवन-व्यवहार किस हद तक ढीला हो गया है कि हम किसी की सरलताका भी उपहास करनेमें नहीं चूकते।

धीरे-धीरे उन्हें जान पाया। १६२० में आगरा जेलके वे अधिकारी थे। स्वर्गीय कृष्णकांत मालवीय, मौलाना हसरत मोहानी आदि प्रमुख कांग्रेसी नेता उस जेलमें बन्दी थे। वहाँ जमकर मुशायरा होता और शिवनारायणजीकी देखरेखमें वे सब यों रहते, जैसे ससुरालमें आये हों। मुलाकातके दिन वे जेलका बड़ा फाटक खोल देते और भीड़की भीड़ भीतर घुस आती—लगता जैसे आज यहाँ घूघेपीरका मेला हो। समयकी भी कोई पाबन्दी न होती, शाम तक सब लोग जमे रहते और शामको जब जाते तो लगता कि कोई जुलूस है। एक दिन इस जुलूसमें श्रीकृष्णकांत मालवीय भी जेलसे बाहर निकल आये और मित्रोंसे बातें करते-करते बाजारकी तरफ चले गये। वहाँ जाकर उन्हें याद आया कि ओह ! मैं तो क़ैदी हूँ और वे दौड़े-दौड़े लौटे !

इन सब बातोंकी खबरें उड़ीं-उड़ीं ऊपर तक गईं और आपको जेलर से नायब जेलर बना दिया गया। उन्होंने इस खबरको इस तरह लिया, जैसे इससे उनके जीवनका कोई सम्बन्ध न हो और उन्होंने फिर कभी जेलर होनेका प्रयत्न ही नहीं किया, चाह भी नहीं की।

१६३० और ३२ के आन्दोलनोंमें वे यों नायबजेलर रहे, जैसे कांग्रेसी

कैदियोंकी सुख-सुविधाके लिए कांग्रेस-महासमिति द्वारा नियुक्त सम्पर्क-अधिकारी हों। शामको ६ बजे जेल बन्द होती, ६॥ बजे दिनभरके जेल समाचार कांग्रेस-दफ्तर पहुँच जाते और ७ बजे वे खड़ियासे बोर्ड पर लिख दिये जाते। किसी कांग्रेसीका तबादला किसी दूसरी जेलको होता, तो स्टेशन पर उसे उसके घर वाले और मित्र मिलते, मालाएँ पहनाते, खिलाते-पिलाते, नारे लगाते, भीड़ जुड़ जाती। सी० आई० डी० दोनों बातोंकी रिपोर्ट ऊपर भेजती। वहाँसे पूछा जाता—जेलकी खबरें बाहर कैसे जाती हैं? जाँच-पड़ताल होती, सवाल-जवाब होते, पर एक बार भी ऐसा नहीं हुआ कि कोई असली सूत्र पा सका हो। यह सब नायब साहबका चमत्कार था! यही नहीं, जाने कितने थे, जो प्रवाहमें बह आये थे और उनके लिए जेलमें टिके रहना असम्भव था, पर नायब साहब ही थे कि उनके लिए जेलको सह्य बनाये रहते थे।

एक दिन मैंने कहा—"इतनी लम्बी और कर्ममय नौकरीके बाद भी आप नायब हैं; इसका कारण हम लोग ही हैं। हम माला पहन कर जेल आते हैं और माला पहनकर जेलसे लौटते हैं; पर आपके त्यागका महत्त्व कौन आँक पाता है?"

अपना कुरता ऊपरको उठाकर, उनकी नंगी छाती पर लोटती तुलसीकी माला दिखाकर बोले—"आप लोग तो जेलसे आते-जाते ही माला पहनते हैं, पर मैं तो जेलमें भी हर समय माला पहने रहता हूँ।" और इतने ज़ोरसे हँसे कि मैं भौंचक रह गया—ओह, यह निस्पृह और निर्मल हास्य!

तब बहुत गम्भीर होकर बोले—"जेलर शब्दमें जो भाव है, वह मुझे ऐसा लगता है, जैसे कोई नरकका दरोगा हो और वह अपनी विकराल सूरतमें मेरे सामने आकर खड़ा हो गया हो, पर मेरे और उसके बीचमें यह नायब शब्द आकर इस तरह बैठ गया है, जैसे वह विकराल दरोगा दीवारकी ओटमें हो और मुझे दिखाई न देता हो।"

सुनकर मुझे लगा कि मेरी नसोंमें चलता खून जम गया है। तभी वे बोले—"कई बार सोचा कि नौकरी छोड़ दूँ, पर मनने कहा तू अंगरेज का मज़दूर जरूर है; नौकर कहाँ है? नौकर तो तू अपनी आत्माका ही है।"

कुछ देर सोचकर बोले—"महात्मा गांधीने एक बार लिखा था कि जो लोग सत्याग्रहकी विजयके लिए सिर्फ भगवान्से प्रार्थना करते हैं, वे भी अहिंसक सेनाके सिपाही हैं। तबसे मनको सन्तोष हो गया है कि रैंक कुछ भी हो; हूँ तो उनका सिपाही ही!"

हम अलग-अलग बैरकोंमें रहते थे और एक बैरकसे दूसरीमें जाना मना था—किसी तरह भी हम इधरसे उधर जा ही नहीं सकते थे, पर हमें कभी अनुभव न होता था कि हम अलग-अलग हैं। हमें क्षण-क्षणकी खबरें मिल जातीं थीं और हमारे परामर्शोंका आदान-प्रदान बराबर होता रहता था, क्योंकि मालाके मनकोंमें, धागेकी तरह नायब साहब पिरोये हुए थे।

पदकी उन्नतिका मोह कितना प्रबल है और उसके पीछे नौकरीके बाद बुढ़ापेमें मोटी पेंशन पानेका भी आकर्षण कितना सबल कि उससे बचना कठिन ही नहीं असम्भव है, पर नायब साहब इस असम्भवको इतनी सरलतासे सम्भव बनाये हुए थे कि शायद ही उन्होंने कभी सोचा हो कि वे भी कुछ कर रहे हैं। कितनी मनोरम थी उनकी निष्ठा, कितना मधुर था उनका व्यवहार, कितने मूक थे वे, पर कितनी मुखर हैं उनकी स्मृतियाँ?

गान्धीजीकी राजनैतिक सफलता देशके सामने है, पर क्या यही उनकी सर्वोत्तम सफलता थी? जब-जब साधूसिंह स्वयंसेवक और शिवनारायण नायब जेलर मुझे याद आते हैं, मैं सोचता हूँ जन-गण-मनमें वे निष्काम निष्ठाकी जो प्रतिष्ठा कर पाये, वही उनकी वास्तविक और सर्वोत्तम सफलता थी। ओह, यह निष्ठा कि लाभका लोभ छोड़कर आम आदमी

अपना आपा देश को अर्पित करनेके अवसरकी तलाशमें रहा करता और अवसर पाता, तो यों टूट पड़ता कि जैसे अपने बारेमें उसे कुछ भी सोचना नहीं है :—

"वतन हमारा रहे शादकाम और आज़ाद !
हमारा क्या है यहाँ हम रहे, रहे, न रहे !!"

[३]

लो, यह है १९३० की फतेहगढ़ जेलका पक्का-वार्डर सुदर्शन ! पक्का वार्डर; जेलका सबसे बड़ा क़ैदी-अफसर ! लम्बी सजाके कैदी जब अपनी आधीसे ज़्यादा सजा काट चुकते हैं, तो उन्हें पक्का वार्डर बना दिया जाता है। ये लोग पीले रंगकी वर्दी पहनते हैं, चपरास लगाते हैं, चार रुपया महीना वेतन पाते हैं और हर महीने चार दिनकी छूट (रेमीशन) तो सख्त सजाका हर कैदी ही अच्छे चरित्रके उपहार रूपमें पाता है, पर पक्कावार्डर ६ दिन और अफसर खुश हों, तो ७ दिन प्रति मास तक पा जाता है। यह रेमीशन जेलका सबसे बड़ा प्रलोभन है; क्योंकि इसमें २० वर्षकी जेलके कैदीको १४ वर्षमें यानी ६ वर्ष पूर्व छुड़ा देनेकी शक्ति है।

सुदर्शनको एक मर्डरकेस-हत्याकाण्ड—में, १४ सालकी सजा हुई थी, जिसमेंसे १० साल वह काट चुका था, साढ़े तीन वर्षका रेमीशन पा चुका था और अब कुछ दिनोंमें वह छूटने ही वाला था। छूटने वाले कैदीका दिल सपनोंसे भरा रहता है, खयाली पुलाव उसकी चौबीसों घण्टेकी खुराक होती है, दिमागी तौर पर वह शेखचिल्ली हो जाता है और रातदिन अपनी नई ज़िन्दगीके नक्शे बनाया करता है। सुदर्शनको घर जाते ही सबसे पहले अपना पक्का मकान बेच देना था। उसके मकानमें जो किरायेदार रहते थे, उनसे जेलमें बैठे-बैठे ही उसने बात कर ली थी और १६००० रुपयेमें उसका सौदा तै हो गया था। ४००० रुपयेसे ऊपर उसका बैंकमें था और कुछ इधर उधर; इस तरह कोई २५००० रुपये उसके हाथमें आने थे।

तब उसे कुछ रुपये खर्च करके किसी गरीब लड़कीसे शादी कर लेनी थी और अपनी दुलहनके साथ बम्बई जाकर कोई रोजगार शुरू कर देना था। उसके सब सपने इस एक वाक्यमें समाये हुए थे—"दुनियामें तो हर साल दीवाली होती है; पर बाबूजी, मेरी ज़िन्दगीमें तो इस साल पहली बार दीवाली आयेगी।" दशहरेसे पहले ही उसे अपने छूट जानेकी पक्की उम्मीद थी और पत्र व्यवहार करके उसने हर बात पक्की कर रखी थी। अतीत उसका समाप्त हो गया था, वर्तमानमें उसके था ही क्या, बस भविष्यकी कल्पना ही उसका वास्तविक जीवन थी और वह कल्पना थी मधुर दाम्पत्यकी, सरस अठखेलियोंकी, रमणीय रंगीनियों की !

ऊँची क्लासके कांग्रेसी क़ैदियोंसे फतेहगढ़ जेल गुंजार थी। दिनमें विचारगोष्ठियाँ होतीं, भाषण होते, रातमें प्रार्थना होती, भजन गूंजते, बातोंमें गांधी-जवाहरके संस्मरण जड़े जाते और यों सब मस्त रहते-किलकारते। सुदर्शन मानसिक रूपसे जेलके बाहर था, साफ सुथरा नागरिक जीवन बिता रहा था। भाई परमेश्वरीलाल गुप्तकी सुनाई यह कथा है। उनके शब्दोंमें सचाई यह है कि वह भी अब कांग्रेसी ही था। एक दिन उसने गुप्तजीसे कहा था—"बाबूजी, तुम मुझे महात्माजीसे जरूर मिलाना, और देखो मौका लगा, तो एक बार मैं भी कांग्रेसमें जेल आऊँगा।"

पक्का वार्डर होनेके कारण वह जेलमें तो सब जगह जा ही सकता था, उसके जिम्मे कुछ काम ऐसे थे कि वह जेलके बाहर भी जाता-आता रहता था। इसका लाभ उठाया कांग्रेसी कैदियोंने। वे उसे अपने तिकड़मी पत्र दे देते और वह उन्हें बाहरके लेटर बाक्समें छोड़ आता। जेलमें प्रेमपत्र लिखने वाले तो थे ही, अनेक लेखक और पत्रकार भी थे। वे जेलकी खबरें अपने मित्र सम्पादकोंको भेज देते और वे छाप दी जातीं। कुछ ऐसी खबरें भी इन खबरोंमें निकल गईं कि सरकार चौंकी और उसने उनके बाहर आनेके स्रोतोंकी खोज आरम्भ की !

एक दिन जब सुदर्शन जेलसे बाहर जा रहा था, उसकी तलाशी हो गई और उसकी जेबसे दस तिकड़मी पत्र निकले। इन पत्रोंमें बहुत कुछ था, पर नीचे किसीका नाम न था। अंग्रेज सुपरिण्टेंडैण्ट जलभुन रहा था; क्यों कि उस पर ऊपरसे लताड़ पड़ी थी और वह इन पत्र-लेखकों पर मुकदमे चलाना चाहता था। सुदर्शनसे उसने उनके नाम पूछे, तो उसने कहा कि मुझे क्या मालूम ?

साहबने उसे प्रलोभन दिया—"तुम मुझे उन लोगोंके नाम बता दो, मैं तुम्हारा अपराध क्षमा कर दूँगा और अपने विशेषाधिकारका उपयोग करके तुम्हें पूरा रेमीशन दे दूँगा, जिससे तुम कल ही जेलसे छोड़ दिये जाओगे।"

बड़ी कठिन परीक्षा थी। यों कहूँ कि विश्वामित्रके सामने मेनका खड़ी हो गई थी, पर सुदर्शनको न रोमांच हुआ, न और कुछ—निस्संग-भावसे उसने कहा—"जहाँ मैं दस साल जेलमें रहा हूँ, कुछ महीने और रह लूँगा, पर अपने मित्रोंके साथ विश्वासघात नहीं करूँगा साहब !"

साहब आग-बबूला हो उठा और गरजकर उसने कहा—"कुछ महीने के भरोसे मत रहना सुदर्शन, मैं जेल मैन्युअलके अनुसार तुम पर मुकदमा चलाऊँगा और तुम्हारा पूरा रेमीशन जब्त कर लूँगा।"

सुदर्शनने सुना, तो सुन्न हो गया। तभी कड़ककर साहबने कहा—"जेलर, इसे तनहाईमें बन्द कर दो और सोचने दो कि यह कल ही घर जाकर अपनी शादी करना चाहता है या अभी चार साल और जेलमें रहना चाहता है ?"

सुदर्शन चौबीस घंटे इकला तनहाईमें बन्द रहा और दूसरे दिन फिर साहबके सामने पेश हुआ। "सोच लिया तुमने ?" साहबने गम्भीर स्वर में पूछा, तो उत्तर मिला—"जी हाँ, सोच लिया।"

साहबने आशान्वित हो, मीठेसे स्वरमें कहा—"तो बताओ उन सबके नाम।"

"लिखिए" सुदर्शनने तैयार होकर कहा; तो जेलरने कागज-पेन सम्भाला; पर एक गहरी धिक्कार-सी डालते हुए सुदर्शनने कहा—"ये सब चिट्ठियाँ सुदर्शनकी हैं।"

जेलर सन्नाया, तो साहब भुन्न या—"उतारो इसकी चपरास और लगाओ हंटर।" सुदर्शनकी देहसे पक्का वार्डरकी वर्दी उतार ली गई और साहबने अपने सामने उसकी वह पिटाई कराई कि आदमी तो क्या स्टेच्यू भी पेटका पानी उगल दे, पर सुदर्शनने उसे इतनी शान्तिसे सहा और कुछ भी न कहा कि सारी जेलमें उस दिन उसीकी चर्चा रही।

फिर उसे तनहाईमें भेजते हुए साहबने कहा—"कल भी तुमने नाम न बताये, तो तुम्हारा सब रेमीशन ज़ब्त कर लिया जायगा और तुम्हें चार सालकी नई जेल काटनी पड़ेगी। एक बात याद रखना सुदर्शन, कि इस नई जेलमें तुम पक्का वार्डर नहीं रहोगे और तुम्हें एक मामूली क़ैदीकी तरह चक्की पीसनी पड़ेगी। जाओ और सोचो।"

दूसरे दिन सुदर्शन जब फिर पेश हुआ, तो वह अपनी बात पर अडिग था। उसका साढ़े तीन सालका रेमीशन ज़ब्त कर लिया गया और उसे चक्कीमें जोड़ दिया गया। कोई एक महीना बाद एक दिन वह कांग्रेस-वार्डमें आया; तो सबने उसके दुःख पर सम्मान प्रकट किया और उसका कारण अपनेको बताया। सबका विचार था कि वह बहुत दुखी है, पर उसने कहा—"आप लोग सोचते होंगे कि मैं इससे दुखी हूँ, पर मुझे ज़रा भी दुख नहीं। मैं तो यही सोचता हूँ कि अब मैं भी महात्मा गांधी का सिपाही हो गया हूँ।"

"फिर भी चार साल बहुत होते हैं सुदर्शन भाई!" श्री परमेश्वरी लाल गुप्तने सहानुभूतिसे कहा, तो शांत स्वरमें उत्तर मिला—"मुकदमे में फाँसी मिल जाती, तो क्या मैं रस्सा पकड़ लेता बाबूजी?" यही नहीं कि अपनी चार सालकी नई जेल पर सुदर्शनको कोई दुख न था, यह भी कि गर्व

था और यह गर्व ही तो था, जिसने सुदर्शनको अपनी निगाहोंमें अब एक नया आदमी बना दिया था।

[४]

उन्नीस सौ तीसके तूफानी दिन; आन्दोलन पूरे जोरों पर !

नारोंसे गूँजता आकाश, पिकेटिंगसे परेशान विलायती कपड़ेकी दूकानें जोशीले जलूसोंसे आक्रान्त सड़कें, और क्रोधसे फुंकारती अंग्रेज-सरकारकी मशीनरी !

यह है देहरादून ! पण्डित महाबीर त्यागी जेलमें और उनकी पत्नी श्रीमती शर्मदा त्यागी मैदानमें।

ऐसले हॉलकी अंग्रेज दूकान पर उस दिन पिकेटिंग शुरू हुई, तो वातावरण सनसनीसे भर उठा। पुलिसके छँटे हुए जवान लाठियाँ साधे तैयार, तो कांग्रेसके डटे हुए स्वयंसेवक मरने तकको तैयार—अब बरसीं लाठियाँ कि अब फूटे सिर !

शर्मदाजी बीमार, पर यह सुना तो उठ दौड़ीं। एक अजब छब, कि खुद कमजोर पर गोदमें पाँच महीनेकी बेटी उमा। वह इधरसे ऐसले हॉल पहुँचीं, तो उधरसे आया घोड़े पर सवार अँग्रेज पुलिस-कप्तान; दोनोंके बीचमें स्वयंसेवक, भीड़ और पुलिस।

वातावरण तन्नाया हुआ था ही, पर कप्तानकी निगाह शर्मदाजी पर पड़ी, तो वह झल्ला उठा—"मारो लाठी !"

लाठियाँ बरसने लगीं। शर्मदाजीने उमाको दिया एक स्वयंसेवककी गोदमें और स्वयं कूदकर लाठियोंकी छायामें जा पहुँचीं, पर भीड़में हर एक शर्मदा तो नहीं था—लोग बिखर चले, पुलिस बिफर उठी। स्वयंसेवक बच्चीको लिये हट ही रहा था कि गिर पड़ा। तभी आ पहुँची पुलिस।

स्वयंसेवकको अपनी चिन्ता न थी, उसे फिक्र था शर्मदाजीकी निधिका, जो उसकी गोदमें थी। उसने झट उमाको घास पर रखा और स्वयं उसके

ऊपर उकड़ू हो उलटा झुक गया। अब उसका पेट उमाके ऊपर कवचछत्र-सा था और कमर आकाशकी ओर, जिसपर पुलिसकी लाठियाँ बरस रही थी, पर वह टससे मस न हो रहा था। दूरसे एक पुलिस-अधिकारीने यह देखा, वह उस तक बढ़ आया।

"यहीं मरेगा क्या कम्बख्त?" अधिकारीने पुलिस-कप्तानकी आँख बचाकर पूछा।

"हाँ, तुम लोग नहीं हटोगे, तो यहीं मरूँगा।"

तब तक उसकी कमर दो डण्डे और खा गई, पर वह न हिला।

"अरे, तुझे जमीनने पकड़ लिया है क्या?" अधिकारीने कहा, तो वह बोला—"नहीं, मेरे पास देहरादूनकी अमानत है।"

पुलिस-अधिकारीने उसे कन्धोंपकड़ खींच उठाया, तो देखा—उसके नीचे आँखें खोल नन्हीं उमा टुकर-टुकर देख रही है। अधिकारी उस स्वयंसेवककी निष्ठा देखकर दंग रह गया और दूसरे दिन उसने शर्मदाजी से कहा—"पुलिसकी बात छोड़िए, सेनामें भी कहीं ऐसी मानसिक निष्ठा मिल सकती है, मुझे सन्देह है।"

[५]

यह है जनवरी १९३७ और यह है फैजपुर-कांग्रेस-अधिवेशनका महामण्डप। कांग्रेस-अध्यक्ष पण्डित जवाहरलाल नेहरू ठीक ८ बजे झण्डा फहराकर अधिवेशनका आरम्भ करने वाले हैं। यह टँगा है सामने ही ८० फुट ऊँचे बाँस पर वह तिरंगा, पर समयसे कुछ ही देर पहले पता चला कि झण्डेकी रस्सी बाँसके सिरे पर अटक गई है इसलिए झण्डा नहीं फहराया जा सकता। चारों ओर परेशानी फैल गई। झुँझलाकर पंडित जी बोले—"यह क्या बेहूदा बात है!"

हाँ, बात बेहूदा है, पर बात तो यह है कि बात बने कैसे? एक सुझाव आया कि बाँसके बीचमें ही झंडा फहरा दिया जाय, पर कप्तान डा० हार्डी-

करने कहा—"हाफ मास्ट या अर्धध्वज तो शोकका चिह्न है, यह कैसे हो सकता है ?" सुझाव रद्द हो गया, पर उपाय क्या है ?

बाँस ८० फुट ऊँचा है, बाँस कमजोर है, उसपर ऊपर तक चढ़े बिना रस्सीकी गाँठ खुल नहीं सकती और उसपर चढ़नेका अर्थ है मौतका खेल! यह खेल कौन खेले ?

"मैं यह काम करनेकी आज्ञा चाहता हूँ" एक नवयुवक भीड़में से निकलकर अध्यक्ष महोदयके सामने आया। खतरोंके महान् खिलाड़ी जवाहरलालने उसे देखा, पर झिझक उनके दिल पर सवार थी—वह हाँ न कह सके, पर युवक सन्नद्ध था, अकम्प था, असंशय था। उसने कहा—"चिन्ताकी कोई बात नहीं। मेरा विश्वास है कि मैं यह काम कर सकूँगा, पर बाँस टूट गया और मैं गिर कर मर ही गया तो क्या है; मरना तो आखिर एक दिन है ही पण्डितजी, यह एक शानकी मौत होगी !"

लोगोंके दिल उमड़ आये, उसे आज्ञा दे दी गई। ईश्वरका ध्यान करके जब माके उस लालने झण्डेके बाँस पर अपना सधा हुआ हाथ रखा और बाँया पैर बढ़ाया, तो हजारों आदमियोंके दिलकी धड़कन एक बार तो बन्द हो गई। हजारों हृदयोंसे शुभकामनाके हजारों निःश्वास निकल पड़े।

सिंहनीका सपूत गगनचुम्बी उस बाँस पर चढ़ चला। सबकी आँखें उसपर लगीं थीं। एक सपाटेमें वह बीच तक पहुँच गया, पर तभी उसका एक पैर फिसला और बाँस जोरसे काँपा। भावुक जनताकी जान-सी निकल गई, पर वह सम्हला और चढ़ता चला।

ओह, कितना सन्तुलित था वह और जनता भी किस तरह साँस रोके उसे देख रही थी; जैसे साँसके धक्केसे बाँस हिल जायेगा। हजारों आदमी खड़े थे, बिना बालभर हिले-डुले; जैसे उनकी सब इन्द्रियाँ सिमटकर आँखों में आ बैठीं हों—वे खड़े थे, पर योगयुक्त-से, अचेतन-से, स्टैच्यूसे।

लो, वह ऊपर पहुँच गया। अब उसके दोनों पैर बाँस पर जमे थे,

शरीर सधा हुआ बाँससे लगा था, एक हाथसे वह बाँस थामे था और दूसरा हाथ उसका डोर पर था। ओह, उस उतने ऊँचे आकाशमें एक साधारण बाँस पर चढ़ा हुआ वह युवक; जैसे नवयुगका ईसा स्वेच्छासे शूली पर चढ़ गया हो! अब बाँस काँपा और वह गिरा, अब बाँस टूटा और वह मरा, हाथ चूका कि खोपड़ीकी खील-खील हुई, पैर फिसला और रामनाम सत्त; चारों ओर मौत ही मौत!

उसने रस्सी ठीक कर दी, बाँस अचल रहा। चारों ओर खड़े हजारों आदमियोंकी आँखोंने अपनी अदृश्य डोरसे उसे बाँध जो रखा था। हर एक आदमी सधा खड़ा था, बैठा था, मुट्ठी बाँधे, तना हुआ, जैसे वही बाँस हो! रस्सी ठीक करके युवक धीरे-धीरे नीचे उतर आया कि हजारों कण्ठों के समवेत स्वरसे उसका जयकार गूंज उठा। झण्डा शानसे फहराया गया, बिगड़ी बात बन गई!

[६]

यह है १० अगस्त १९४२ और ये घुमड़ रही हैं विद्रोही घटाएँ और ये उमड़ आई हैं विप्लवकी आँधियाँ!

बिहारका एक नगर; मुकम्मल हड़ताल। स्कूल बन्द, बाजार ठप्प। यों ही कुछ विद्यार्थी स्टेशन जा पहुँचे। गाड़ीके आनेका समय, लोग टिकट बटनेकी प्रतीक्षामें; सब कुछ साधारण, पर तभी वहाँ जाग उठी असाधारणता—इनकलाब जिन्दाबाद, और उन छात्रोंने स्टेशनको अपने नेतृत्वमें ले लिया।

न शिक्षा, न प्रशिक्षण, पर वाह रे नेतृत्व कि हर सूझ निराली, हर आदेश व्यवस्थित। कहींसे कोयला उठाकर टिकटकी खिड़की पर लिख दिया गया—'टिकट लेना मना है' साथ ही यह घोषणा—"जो टिकट खरीदेगा, उसे गाड़ी पर नहीं चढ़ने दिया जायेगा।"

और यह लो, कोई खरीदेगा कहाँसे? टिकट घरमें आग लग गई

रुपये-पैसे स्टेशनमास्टरको सौंप दिये गये। यह आगई गाड़ी। ड्राइवर और गार्डको लाइनमें खड़ा किया गया और तब हुई यह घोषणा—"हिन्दुस्तानमें अंग्रेजोंका राज्य खत्म हो गया है, हमने अपना स्वराज्य पा लिया है, यह गाड़ी स्वराजी रेल है, सब लोग बिना टिकट चढ़ जायँ!"

यह नहीं कि जो चाहे जहाँ चढ़ जाये, नहीं पदके अनुसार सब बैठें। स्वराज्यमें सबसे बड़ा पद है जनताका, इसलिए गद्देदार डब्बोंमें अपढ़ देहाती बैठें और बाकी लोग दूसरे डब्बोंमें। जो लोग स्टेशनोंसे टिकट लेकर आ रहे थे, उनके टिकट फड़वा दिये गये। गार्ड और ड्राइवर भारतमाता एवं महात्मा गांधीकी जय बोलकर शुद्ध हो गये और उन्हें उनकी नौकरियों पर बहाल कर दिया गया। एक मिनटमें ४ नेताओंका चुनाव होगया और दो ड्राइवरके पास बैठ गये, दो गार्डके पास। यह शासनतंत्र पर दलतंत्रका नियन्त्रण था।

तब घोषणा हुई—भारतसे अंग्रेज गये तो अंग्रेजियतको भी जाना चाहिए, इसलिए जो लोग टोप पहन रहे हैं वे उन्हें फेंक दें। वे फेंक दिये गये, पर इतना ही काफी नहीं है। जो लोग पतलून पहने हैं, टाई लगाये हैं, वे उन्हें उतार दें। तो क्या वे नंगे रहें? नहीं, नेतृत्वकी घोषणा है, जिनके पास कुरते, पाजामे-धोतियाँ हैं, वे उन्हें भेंट करें। सारी गाड़ीका भारतीयकरण हो गया। अब बचे दो अंग्रेज! उन्हें मार डाला जाय, एक आवाज आई! यह गांधी जीकी अहिंसाके विरुद्ध है, कई आवाजें उठीं। आदेशानुसार वह डब्बा गाड़ीसे काट दिया गया, जिसमें अंग्रेज बैठे थे। बस इंजन पर तिरंगा झण्डा लहराया गया और गाड़ी चल पड़ी।

जहाँ भीड़ मिलती, गाड़ी ठहर जाती, नेता प्रचार करते। जहाँ स्टेशन आता, नेता उतर कर उसे फूकते-नारे लगाते और गाड़ी आगे बढ़ जाती!

साधूसिंहकी अज्ञान श्रद्धा, नायब जेलरकी अथाह आस्था, सुदर्शनकी अडिग दृढ़ता, देहरादूनके स्वयंसेवककी निष्ठा, फैजपुरके तरुणका विश्वास

और बिहारी नगरके उन भोले विद्यार्थियोंकी व्यवस्था ऐसे हीरे हैं, जो विश्वके किसी भी देशके क्रान्ति-संग्रहालयमें फीके नहीं पड़ सकते; उनकी बहुमूल्यता कहीं भी कम नहीं हो सकती। अक्सर सोचा है, उस बालिकाकी रक्षा, उस झण्डेकी गाँठका उद्धार और उस गाड़ीकी व्यवस्था लेनिन, गांधी, नासिर या जवाहरलालके हाथमें होती, तो क्या वे इससे कुछ विशिष्ट कर पाते? कमसे कम मेरे मनने इसपर कभी हाँ नहीं की! और मेरा सिर देशके इस हीरे-मोती और लालोंकी स्मृतिमें सदा झुक-झुक गया है।

लाल तागा फुर्र !

जब कोई उम्रमें अपनेसे बड़ा हो, तो मेरा मन तुरन्त उसे बड़ा मान लेता है और जो बड़ा है, उसके सामने नम्र रहना, किसी भी परिस्थितिमें उसके प्रति अशिष्ट न होना मेरा स्वभाव-संस्कार है।

इस स्वभाव-संस्कारकी भी एक अपनी कहानी है। १९३० की जेल यात्रासे मैं लौटा, तो एक विजयी सिपाहीकी तरह—कांग्रेसके सामने, कहूँ कि भारतकी उफनती स्वातंत्र्य भावनाके आगे, वायसराय इर्विनने, कहूँ कि अँग्रेज़ी राज्यके शक्तिदर्पने, पहली बार घुटने टेके थे और हमें इस तरह जेलसे छोड़ दिया था, जैसे एक ही झपाटेमें निगले हुए मनुष्यको नाकू ज्योंका त्यों वापस किनारे रखजाय !

राष्ट्रीय महत्त्वकी बात यह कि जनताने इस सफलताको स्वयं अपनी विजय माना था और वह उत्साहसे दीवानी हो उठी थी। जेलसे छूटकर भाई आनन्द प्रकाशके साथ मैं अपने नगर पहुँचा, तो स्टेशन पर कोई १५ हजार नर-नारी थे और जलूसमें वो बाँकपन था कि दिल्ली-दरबारकी स्मृतियाँ आसमानमें लटकी टुकुर-टुकर देखा करें !

जलूसके बाद मैं घर पहुँचा, तो समाजके कुछ ऐसे आदमी मेरे घर आ गये, जो पद-प्रतिष्ठामें एवरेस्ट थे। खुश तो आज वे भी थे, पर उनमें इतना साहस कहाँ कि खुलेआम अपनी खुशीका प्रदर्शन कर सकें; क्योंकि कुछ भी हो उन्हें अँग्रेज कलक्टरसे मिलकर रहना है, उसे नाराज़ नहीं करना है। मेरी गलीके लिए तो उनका आना एक चमत्कार ही था !

उनसे निपट कर मैं पिताजीके निकट कुछ देर बैठनेके लिए उनके कमरेमें गया, तो मुझे लगा कि वे सुस्त हैं—सुस्त क्या दुखी हैं ! मैंने

पूछा, तो वे बचे, किनारे हुए, पर आग्रह किया तो बोले—"लगता है, बड़ोंका पुण्य परिवारमें अब समाप्त हो रहा है।"

मुश्किलसे वे खुले, बोले—"तुम जब खान बहादुर शेख ज़ियाउलहक़से बातें कर रहे थे, तो अब्बा आये थे तुम्हारे पास, पर तुम उनके पैर तो क्या छूते, तुमने उनकी तरफ देखा भी नहीं; बेइज़्ज़त होकर चले गये बेचारे।"

मैंने कहा—"आप विश्वास कीजिए मैंने उन्हें देखा नहीं, वरना मैं ज़रूर उनके पैर छूता और उन्हें बैठाता !"

बोले—"खानबहादुर शेख जैसे आदमियोंका हमारे घर आना, कलजुगमें सतजुग है, पर बेटा, जिस घरमें बुज़ुर्गोंका अपमान होता है, वहाँ सब पुण्य नष्ट हो जाते हैं।"

पहले अब्बाका परिचय दूँ। वे विशाल हिन्दू मुहल्लेके इकले मुस्लिम नागरिक, दर्ज़ीका काम उनका घरेलू पेशा, उम्रमें पिताजीसे कुछ बड़े और अपने बच्चोंके साथ मेरे भी अब्बा। मैं उठकर उनके पास गया, पैर छुए, तो लिपट गये, खुशीसे उनकी आँखें छलक आईं, पर जब बराबर अपनी भूलके लिए मैंने उनसे क्षमा माँगी, तो आश्चर्यसे बोले—"कैसी भूल ?" मैंने पिताजीकी बात उन्हें बताई, तो वे हँसे और मेरे साथ आकर उन्होंने पिताजीको प्यारकी तकड़ी डाटें पिलाईं—"भाई, अब तू हरद्वार रहाकर, हम तुझे वहीं खर्चा भेज दिया करेंगे। बुढ़ापेमें तेरी अकल खराब हो गई है और तू हमारे बच्चोंको दुखी करने लगा है ! खान बहादुरको देखकर मैं खुद लौट गया, पर तू केकैकी तरह आसनपाटी लेकर ही पड़ गया—वाह भाई वाह !"

पिताजी खुश हो गये, पर मेरे मन पर बड़ोंके सम्मानमें सावधान रहनेकी एक गहरी रेखा खिंच गई। इसके कुछ मास बाद मेरे पिताजी बीमार पड़े, तो मैंने उनकी चिकित्सा आरम्भ की। एक सप्ताह वे शांतिसे

दवा पीते रहे और तब मुझसे बोले—"तू देख रहा है या नहीं कि दवाने ज़रा भी लाभ नहीं किया रोगको।"

चिन्ताकी कोई बात वातावरणमें थी ही नहीं, इसलिए मैंने कहा—"हाँ, मैं सोच रहा हूँ आज इलाज बदलूँगा और अस्पताल वाले डाक्टर साहबको बुलाऊँगा!"

सरलभावसे, पर अत्यन्त दृढ़ मुद्रामें वे बोले—"भोले भाई, मृत्युकी दवा किसी डाक्टरकी बोतलमें नहीं है। देखता नहीं कि काल भगवान् सब दवा पी गये।"

कुछ क्षण वे चुप रहे और तब बहुत ही मीठे होकर बोले—"बेटा, बस अब तो यात्राका समय है। सात दिन बाद गुरुपूर्णिमा है, बस मैं उसी दिन चला जाऊँगा। दवा नहीं, अब तो तू मुझे गंगाजल पिला।"

मैं उनके प्रति सदा विश्वासी रहा, इसलिए मेरे मनने तुरन्त मान लिया कि वे गुरु पूर्णिमाको चले जायेंगे और उनके लिए गंगाजलका प्रबन्ध कर दिया। दूसरे दिन मैंने उनके चरण छूकर कहा—"पिताजी, अपने जीवनका सर्वोत्तम अनुभव मुझे बताइए, जो आपके पीछे मुझे सहारा दे, राह दिखाये!"

सम्पूर्ण सन्तुलनके स्वरमें बोले—"जो अपनेसे उम्रमें बड़े हैं, वे पद, प्रतिष्ठा, धन और बुद्धिमें भले ही तुझसे छोटे हों, उनके सामने हमेशा अपना सिर नीचा और बोल मीठा रखना, उनके साथ कभी अशिष्टताका, उद्धतताका व्यवहार मत करना और जो अपनेसे उम्रमें छोटे हैं, अपना हाथ सदा उनके कन्धों पर रखना, यथाशक्ति उन्हें सहारा और ममता देना; बस भगवान्की कृपा सदा तुझे राह दिखायेगी, आगे बढ़ायेगी।" बस उस दिनसे बड़ोंके प्रति नम्र-शिष्ट व्यवहार कहा तो मैंने आपसे कि बस मेरा स्वभाव-संस्कार हो गया!

"आपके स्वभाव-संस्कारकी यह कहानी तो सचमुच जीवनकी बहुमूल्य

धरोहर ही है, पर हमें अब आप वह बात सुनाइए, जो रोचक तो है ही, सोचक भी है ।"

जी हाँ, आपको वह बात सुनानेके लिए ही तो मैंने यह बात सुनाई है। यों समझिए कि यह है भूमिका, तो वह है पुस्तक और लीजिए भूमिका और पुस्तक दोनों एक हुए जाते हैं कि वृद्धोंका सम्मान है मेरा स्वभाव-संस्कार और वे थे वृद्ध, इसलिए जब मैंने उन्हें अपने ही घरके सामने अपमानित होते देखा, तो स्वाभाविक है कि मेरे मनको ठेस लगी और मैं चुप न रह सका !

उनकी उम्र होगी कोई साठ साल की,, फिर भी चुश्त–चौबन्द और आवाज़ तो ऐसी कि सुनकर कड़ाका लगे। नाम उनका क्या, मुझे नहीं मालूम, पर इतना पता कि वे मण्डीमें अनाजकी दुकान करते हैं। अपनी गलीमें होहल्ला सुनकर मैंने खिड़कीसे झाँका, तो देखा कि वे नीचे खड़े धड़ा-धड़ गालियाँ दे रहे हैं और दूर-दूर खड़े बच्चे एक छोटेसे वाक्यको इतनी ज़ोर और तेज़ीसे दोहरा रहे हैं कि गुंजार तो सुनाई देती है, पर शब्द पकड़े नहीं जाते !

मैंने ऊपरसे ही पूछा—"क्या बात है भगतजी ?"

बोले—"ये बच्चे बहुत बदमाश हैं, मुझे गाली देते हैं।"

एक वृद्ध आदमीको मेरी गलीके बच्चे गाली देते हैं, मेरे लिए यह सूचना बहुत बेधक थी। मैं उतर कर नीचे गया, बच्चे सामनेसे इधर उधर हो गये और वे सज्जन भी बड़बड़ाते हुए एक ओर चले गये। मैंने समझा बात खत्म हुई और ऊपर चला आया, पर दूसरे दिन दोपहरको फिर वही गुलगपाड़ा मचा कि बच्चे जल्दी-जल्दी, पर पूरी तेज़ीसे कविताका एक टुकड़ा-सा दोहरा रहे है और वे सज्जन हैं कि गालियोंकी वर्षा कर रहे हैं।

मैं जल्दी-जल्दी नीचे गया और उनसे पूछा—"क्या बात है लालाजी ?"

गुर्राकर वे बोले—"दीखता नहीं तुम्हें कि ये मुझे गालियाँ दे रहे हैं !"

बच्चे इस समय चुप थे। झिड़क कर मैंने उनसे कहा—"एक बुज़ुर्ग आदमीको गालियाँ देते, तुम्हें लाज नहीं आती !"

एक बालक बोला—"हम क्यों देते इन्हें गाली ? उल्टे गालियाँ तो ये ही हमें देते हैं।"

"फिर तुम चिल्ला क्या रहे थे।" मैं ने पूछा।

"हम तो गीत गा रहे थे।" उसने उत्तर दिया। वे सज्जन गरमा गये और चिल्लाकर बोले—"नालायक़, तू अपने मरे बापको रोरहा था या गीत गा रहा था !"

मैंने उन्हें चुप किया और उस बालकसे पूछा—"तुम गीत गा रहे थे ?"

"हाँ जी।"

मैं मामलेको समझना चाहता था, इसलिए मैंने पूछा—"तुम काहेका गीत गा रहे थे ?"

उत्तर मिला—"लाल तागेका !"

"लाल तागेका ?"

"हाँ जी।"

मैं अभी बातको समझ ही रहा था कि वे सज्जन तेज़ीसे एक ओरको चल दिये और आश्चर्यकी बात यह कि अब वे बालकोंको नहीं, मुझे ही गालियाँ देते जा रहे थे।

उन्हें जाते देखकर सब बालक पूरे ज़ोरसे एक साथ चिल्ला पड़े—"लाल तागा फ़ुर्र ! लाल तागा फ़ुर्र ! !"

लाल तागा फ़ुर्र ! अरे, ये लाल तागा फ़ुर्र क्या होता है ? मैंने बच्चोंसे पूछा, तो हँसते-हँसते बोले—यही तो है लाल तागेका गीत !

बातचीतसे पता चला कि ये सज्जन लाल तागा फ़ुर्र कहनेसे चिढ़ते

हैं । ओह, तो यह चिढ़ाई है इनकी ! मुझे याद आया कि मेरे साथी एक विद्यार्थी इमरती कहनेसे चिढ़ा करता था और मेरे एक रिश्तेदार तरबूज़ कहने से चिढ़ते हैं, और आश्चर्यकी बात यह कि वह विद्यार्थी इमरती खानेमें किसीसे पीछे नहीं था और ये रिश्तेदार महोदय भी सामना होने पर तरबूज़को नहीं बख्शते !

फिर यह लाल तागा फुर्र क्या है ? एक बालकने मुझे बताया कि एक दिन इन लालाजीने एक चिड़िया पकड़ली । इनके पास कोई पिंजरा तो था नहीं, इसलिए ये उसे एक लाल तागेमें बाँधने लगे, पर गाँठ ठीक लगी नहीं, तो चिड़िया फुर्रसे उड़ गई और वह लाल तागा इनके हाथमें रह गया । बस तबसे इनकी चिड़ाई पड़ गई—लाल तागा फुर्र ! सुनकर मुझे भी हँसी आ गई, यह जानते हुए भी कि यह घड़ी हुई कहानी है ।

एक-दो दिन कोई बात नहीं हुई, शायद वे सज्जन हमारी गलीमें से नहीं आये, पर तीसरे दिन जो हंगामा हुआ, उसने पुराने सब रेकार्ड मात कर दिये । वे सज्जन दोपहरको खाना खानेके लिए दूकानसे घर चले, तो हमारी गलीमें से निकले । चार खरबूज़े वे अपनी दोनों बगलोंमें दबाये हुए थे । रविवारका दिन, तो सब छोटे-बड़े लड़के गलीमें ।

उन्हें देखते ही सब मोर्चे पर आ जुटे और लगे छूटने पटाखे—लाल तागा फुर्र, लाल तागा फुर्र ! लालाजीकी मशीनगन भी पूरे वेगसे गालियोंके गोले उगलने लगी । सच समझिए आप कि एक धुवाँधार मचगया ।

एक लड़का लालाजीके एक दम पास आ गया और आदाब अर्ज़ करनेकी मुद्रामें बोला—"लालाजी, लाल तागा फुर्र !"

वह इतने पास था कि उन्हें लगा, वे इसे दबोच सकते हैं और पूरे ज़ोरसे वे उसपर झपटे—झुके, पर उस लड़केने इस सफाईसे कन्नी काटी कि वह तो उनके हाथ आया नहीं, पर वे गिरते-गिरते बचे । इस

स्थितिका फायदा उठाकर एक बड़े लड़केने उनकी टोपी हाथ बढ़ाकर उतार ली और दौड़ कर एक मकानमें घुस गया।

लालाजी अब आपेसे बाहर थे और शायद आज इस मामलेका फैसला करने पर उतारू हो गये थे। कौन रोज़-रोज़ बेइज़्ज़त हो, 'आज तुम नहीं या मैं नहीं।' उन्होंने अपने ख़रबूज़े सामने वाले मकानकी चौकी पर रख दिये और वे भी तेज़ीसे दौड़ कर उस मकानमें घुस गये, जिसमें वह टोपी वाला लड़का गया था।

दिखाई तो मुझे कुछ नहीं दिया, पर मकानोंके भीतरसे हो-हल्ला सुनाई देता रहा। कोई आधा घंटा बाद कुनमुनाते हुए लालाजी घरसे बाहर आये और उस चौकीके पास पहुँचे, जिस पर वे अपने ख़रबूज़े रख गये थे, पर वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा, वह तो और भी विचित्र था। दूसरी तरफ़से आकर ख़रबूज़े तो लड़के खागये थे, पर उनके छिलके और बीज वहाँ रखे थे। फिर उन्होंने गालियोंकी कुछ बौछारें फेंकी और वे चलने को ही थे कि उनके नंगे सिरको किसीने छुआ। ऊपर देखा तो उनकी टोपी एक लाल तागेमें बँधी हुई लटक रही है। पास ही थी। उसे पकड़ने को उन्होंने हाथ बढ़ाया, तो वह ऊपर खिंच गई। अब बहुत देर यह जम्नास्टिक होती रही कि टोपी नीचे आये, तो वे उसे पकड़नेको उचकें और वे उचकें, तो टोपी ऊपर हो जाय। एक महिलाके वहाँ आजाने से वह टोपी उन्हें मिली और वे उन छिलकों और बीज़ोंको हसरत भरी निगाहोंसे देखते हुए बिदा हुए।

मैं इस सारे काण्डको अपनी खिड़कीमें बैठा देखता रहा और बीचमें कई बार सच कहूँ, मुझे भी ज़ोरकी हँसी आई, पर अन्तमें मैंने अपने आपको दुखी पाया। कहा तो मैंने कि बुज़ुर्गोंके प्रति नम्र रहना मेरा स्वभाव—संस्कार है और मैंने इस बारेमें कुछ करनेका निश्चय कर लिया।

मैंने सुना तो भौंचक, पर दूसरे दिन तो कमाल ही हो गया कि वे गलीमें आये, तो बच्चे खामोश रहे और दोनों एक दूसरेको देखते रहे। मैं छिपकर देखता रहा कि उनके चेहरे पर एक भिखारी जैसा भाव था और वे जैसे बच्चोंके सामने गिड़-गिड़ा रहे थे कि अरे तुम चुप क्यों हो? अचानक उन्होंने एक शैतान लड़केकी तरफ अपनी दांयीं आँख मटकाकर पूरा सिर इस तरह हिलाया, जैसे कोई गार्ड हरी झण्डी हिला रहा हो।

इनका इशारा काम कर गया और डरते-डरते भी उस लड़केके मुँहसे निकल गया लाल तागा फुर्र! सुनकर उनका खिंचा हुआ चेहरा नरम-मुलायम पड़ गया और उन्होंने उसी तरह और भी ज़ोरसे दो-तीन बार सिर हिलाया। बस फिर क्या था, गाड़ी छूट गई—लाल तागा फुर्र! लाल तागा फुर्र!!

मैंने आश्चर्यसे देखा—वे इतने खुश थे कि उनकी पूरी देह इस तरह मचमचा रही थी, जैसे किसी भरी सभामें लोग उनकी जय बोल रहे हों!

वे चले गये और मैंने देखा कि आज उन्होंने किसी बालकको गाली नहीं दी। दूसरे दिन जब वे गलीमें आये, तो मैं नहीं था, पर सुना कि उनके आने पर जब लड़के चुप रहे, तो वे खड़े हो गये और लड़कोंकी तरफ घूरते रहे। लड़के भी एक तमाशेकी तरह उन्हें देख रहे थे। अचानक उन्होंने गलीमें पड़े कुछ छिलके उठाए और ताक-ताक कर उन्हें लड़कों पर फेंका। इससे लड़के कुदे और उन्होंने लाल तागा फुर्रकी आवाज़ लगाई। सुनकर लालाजी हाथोंको इस तरह नचाते रहे कि बालकोंको लुत्फ़ आया और वे हँसते-हँसते दोहरे हो गये। तीसरे दिन वे फिर आये, तो लड़कोंने उन्हें घेरा—लाल तागा फुर्र, लाल तागा फुर्र, पर उन्होंने गालियाँ नहीं दीं और सिर्फ धुत, धुत, कहते रहे। चौथे दिन मामला अपनी जगह आगया—यथा पूर्वमकल्पयत्—कि एक तरफ लाल तागा फुर्र, तो दूसरी तरफ गालियोंकी बौछारें—पूरा हंगामा।

बच्चोंसे मैंने कहा,—"तुम फिर शैतानी करने लगे"—तो बोले—"भाई साहब, जब उन्हें ही अच्छा लगता है, तो हम क्या करें !" बात सच थी, मैं स्वयं देख चुका था, पर बात अजीब थी। भला यह कैसे सम्भव है कि कोई आदमी खुली सड़कोंपर गालियाँ सुनना। और गालियाँ बकना पसन्द करे। कोई भला आदमी यह क्यों चाहेगा कि लोग उसे यों चिड़ायें और बदलेमें बकनेके लिए मजबूर करें ?

तो यह एक रहस्य है और रहस्यका अधिकार है कि उसकी खोज हो ? रहस्य मनका है, तो खोज भी मनकी ही। मैंने उनके जीवनकी पुरानी परतें धीरे-धीरे निकट सम्पर्कमें आ देखनी—परखनी शुरू की। मैं उनका ग्राहक हो गया और इस बहाने घण्टों उनकी दूकानपर बैठा, इधर-उधरकी बातें करता रहता।

एक-एक दाना पिरोकर महीनोंमें जो माला बनी, वह इस प्रकार है—उनकी मा तब मर गई, जब वे पाँच वर्षके थे। पिताने दूसरा विवाह किया और जब तक ये १० वर्षके हुए इनकी विमाता चार पुत्रोंकी मा हो गई। उन चारोंको मा-बापका पूरा लाड़ इनकी आँखोंके सामने मिलता, पर ये पाते माकी उपेक्षा, बापकी मार। विमाता अपने पुत्रोंसे इन्हें साँपकी तरह दूर रखती। ये अपने छोटे भाइयोंको देखनेसे भी तरसते। आँख बचा कर कभी उन तक पहुँच जाते, तो शामको ही पिटाई होती। वे बालक भी इनकी उपेक्षा करते, इन्हें दुत्कारते। यों बालकोंसे उपेक्षित हो, ये जिये—पले। बादमें ये परिवासे अलग हो काम करनेमें जुटे, सफलता मिली, विवाह किया, तीन पुत्र हुए, पर तीनों मर गये, पत्नी भी चल बसी। अब दूरकी रिश्तेदार एक विधवा बुढ़ियाके पास रहते हैं ?

यह सब जाना, तो कलेजेमें सुइयाँ-सी चुभ गईं—ओह, विमाताकी राक्षसी वृत्तिने बचपनमें इस बेचारेको बालकोंकी उपेक्षामें तड़फाया, तो अन्तर चेतनामें एक कुण्ठा बन गई कि यह बालकोंको अपनी ओर आकर्षित

करे और जब वे आकर्षित हों, तो उन्हें झंकोड़े, गालियाँ दे, अपमानित करे, उपेक्षाका बदला ले। प्रतिहिंसाका अद्भुत मनोवैज्ञानिक रूप है यह लाल तागा फुर्र।

वे अब नहीं हैं, पर जब-जब उनकी याद आती है, सोचता हूँ, वे इकले ही तो न थे, जाने कितने हैं, जो कुण्ठाओंका शिकार बने, दूसरोंके पापोंका फल भोग रहे हैं?

यशपाल

"कौन आया है जी?"

सहारनपुर जेलके ७ नं० वार्डमें किसी नये कांग्रेसीके आनेकी खबर पाते ही उत्कण्ठासे मैंने अपने एक साथीसे पूछा।

"आपका चेला आगया है पण्डित जी!"

"कौन चेला?"

"यशपाल, जिसे आप याद कर रहे थे!"

मैं बान बटना बंदकर चौकमें पहुँचा, यशपाल खड़ा जेलके कपड़े बदल रहा था। उसे कैदीके रूपमें देखकर मेरा रोम-रोम खिल उठा। उसने मुझे प्रणाम किया और मैं उसे लिपट गया। आज मेरा 'अध्यापकत्व' कृतार्थ हो गया था। यह १९३० की बात है। तब मैं संस्कृत विद्यालयमें अध्यापक था।

मैंने सदा ही यह अनुभव किया था कि उसके दुबले-पतले शरीरमें एक बलिष्ठ आत्मा निवास करती है। वास्तवमें वह एक फूल था। सरलता के सौन्दर्यसे उत्फुल्ल और त्यागके सौरभसे सुगन्धित। अभी वह खिलने ही लगा था, पर निश्चय ही किसी दिन वह अपना सौन्दर्य बखेर कर राष्ट्रके उपवनको खिला देगा और उसकी सौरभसे महक उठेगा राष्ट्रमाताका मन्दिर। उसकी प्रथम झाँकीके दर्शकोंने ऐसी ही भविष्यवाणीकी थी, पर हाय, उनमें कोई भी न जानता था कि यह फूल खिलने नहीं आया, यों ही दो दिनको यहाँ अटक गया है।

जिस हृदय-पात्रको उसके सौरभकी परागमालासे भरनेका स्वप्न देखा था, उसके अभावमें आज वह कसकसे भर रहा है! कभी-कभी जीवन-मरणका यह खेल कितना दारुण हो उठता है!

वह अपने स्वभावकी मिठासके कारण इतना आकर्षक था कि शीघ्र ही अपने जेलके साथियोंके मन चढ़ गया। जेलमें मनुष्यता क्षीण हो जाती है। लम्बी सजा और सी क्लास; पर वह वहाँ भी सदा सर्व-प्रिय रहा। किसीके हिस्सेके वह बान बाँट देता, किसीके कपड़े धो देता, बीमारों के पैर दबा देता और किसीको पुस्तक पढ़कर सुना देता। सभी उसे अपने अनुजकी तरह प्यार करते थे।

बी क्लासमें आने पर मैंने अपना भोजन उसके लिए 'रिज़र्व' कर दिया था, पर उसने मेरे नाराज़ होने पर भी शायद ही किसी दिन उसका अपने लिए उपयोग किया हो। कभी किसीको दलिया दे देता, कभी चावल और कभी शाक। उसके इस त्यागका महत्त्व केवल वे ही अनुभव कर सकते हैं, जिन्हें उन दिनों कभी भारतीय जेलोंकी सी क्लासमें रहनेका अवसर मिला हो।

मैं जब बाहरके चौकसे अपना प्रभातका काम पूरा करके लौटता, तो उसे अंगोछे पर चने रखे, बान बटते पाता। उसके चने सदा दो भागों में बटे होते थे। खिले हुए मेरे लिये और रोड़े अपने लिये। मैं उसे इसके लिए डाटता, तो मुस्करा पड़ता। कितनी सात्विक थी उसकी यह मुस्कान!

लेखन-कला पर एक दिन रातमें बातें होने लगीं। संस्मरण पर बात छिड़ते ही मैंने कहा—"यशपाल! किसी दिन तुम मेरे संस्मरण लिखोगे, तो इस जेलखानेकी चर्चा जरूर करोगे।" साधारण भावसे उसने कहा—"कौन जानता है आप ही मेरे संस्मरण लिखें।" उसकी यह भविष्य वाणी सत्य निकली। अपने इस अभाग्य पर मैं क्या टीका करूँ?

राष्ट्रकी दासता, मैंने अनुभव किया, उसके हृदयमें सदा काँटेकी तरह चुभती थी और उसे मिटानेके लिए न जाने वह क्या-क्या सोचा करता था। एक दिन विवाहके आदर्श पर बात चल रही थी। मैंने कहा—

"यशपाल ! तुम्हारा विवाह जाति-पाति, दहेज़ और परदे आदिके आडम्बरों को छोड़कर करेंगे। "

सरलतासे उसने कहा—"एक तरफ तो आप मुझे अपनी तहसीलके एक परगनेमें ग्राम-सेवा-आश्रम बसानेका आदेश देते हैं और दूसरी ओर आदर्श विवाह का। क्या राष्ट्र-सेवा और दाम्पत्यका एक साथ समन्वय हो सकेगा पंडित जी ?

मैंने कहा—"हाँ हाँ, अच्छी तरह। तुम भी क्या स्त्रीको बन्धन मानते हो जी ?"

"नहीं बन्धन तो नहीं मानता पंडित जी, पर मेरे लिए यह बहुत कठिन भी न हो तो भी देशकी परिस्थितिमें मैं तो विवाह और राष्ट्र-सेवाके समन्वयको ऐसा ही समझता हूँ, जैसे वकालत और सत्याग्रहका समन्वय !"

मैंने चौंक कर उसकी दृढ़-मुख-मुद्राकी ओर देखा। मेरे मनमें आया, ओह ! कितना गहरा है यह भोलासा ग्रामीण युवक !

वह श्री देवीकुण्ड संस्कृत विद्यालय देवबन्दका एक विद्यार्थी था, मनस्वी, प्रतिभाशाली और श्रमशील। इतिहास और गणित उसके अध्ययनके मुख्य विषय थे। एक दिन मैं उसे पढ़ा रहा था। देवीकुण्ड उन्हीं दिनों फिरसे खुदाकर नहरके जलसे भरा गया था। मैंने कहा— हजारों मन जल होगा इसमें यशपाल ?

बस, फिर क्या था, एक डोर लेकर वह जुट पड़ा, अठारह बीघेके उस महातालावका जल तोलने ! मैंने उसे मना किया, साथियोंने उसे पागल कहा, पर वह अपनी धुनका बड़ा पक्का था। उसने चालीस जगहसे पानी की गहराई नापकर उसका औसत निकाला और गड्ढा खोद कर उसमें पानी भरा, उसे निकाल कर तोला, इस प्रकार पानीके भी वजनका औसत लिया और पन्द्रह-सोलह घण्टेकी मेहनतके बाद उसने विस्तार पूर्वक एक कागज पर आँकड़ोंसे यह सिद्ध किया कि इस तालावमें साढ़े पैंतीस लाख

मन (शायद टन) पानी है। हम सबने इस निष्कर्षको भी उसकी एक गप्प ही कहा, पर बादमें गणितके कई अध्यापकोंने उसके मतका समर्थन कर उसकी इस 'सनक'को महत्व दे दिया था।

उसने देवबन्द तहसीलके एक ग्राम कुकावीमें एक जमींदार क्षत्रियके घरमें जन्म लिया था, पर उसके स्वभावमें 'क्षात्र और ब्राह्म' का समन्वय था। साधारणतया वह बहुत नम्र था, पर अत्याचार और अन्यायका जोरदार प्रतिवाद, उसके स्वभावकी विशेषता थी। वह पराधीन भारतकी शांतिसे बहुत कुढ़ता था। अशान्ति, तूफान और प्रलयके सुख-स्वप्न उसकी आँखों में समाये हुए थे, पर उसमें जरा भी उच्छृंखलता न थी। उसकी प्रवृत्तिमें यौवनका अल्हड़पन और वृद्धत्वकी संजीदगी मिली हुई थी। वह गाँवको 'मुक्तिका द्वार' कहा करता था और उसकी इच्छा अपने जीवनको गाँवोंके पुनरुत्थानमें ही खपा देनेकी थी।

भाषणमें वह धीरे-धीरे, पर खूब गम्भीरतासे बोलता था और उसके लिखनेमें खूब प्रवाह होता था। लेखन-कलाकी दृष्टिसे भी उसका भविष्य उज्ज्वल था और एक राष्ट्रीय कार्यकर्ताके रूपमें भी।

फरवरी १९३५ के दूसरे सप्ताहमें देवबन्द तहसीलकी राजनैतिक कान्फ्रेंसमें बासन्ती कुरता पहने वह मेरे साथ रातदिन काम करता रहा। कामके रहते विश्राम उसे याद न आता था और अपनी ओर ध्यान देनेकी कभी उसे फुरसत ही न होती थी। वहीं उसे ठण्ड लग गई, जुकाम हुआ और बुखार भी। तीन दिनके लिये वह घर चला गया, पर वहाँ उसे नमूनिया होगया। गाँवमें यथासम्भव उसकी चिकित्सा की गई, पर कालने उसे न छोड़ा और इस प्रकार राष्ट्रके उपवनकी यह कली बिना खिले ही मुरझा गई। वह बिना सौरभ बिखराये, बिना इतराये, राष्ट्रके चरणोंकी धूलमें अपनेको मिलाकर अपना जन्म सफल कर गया।

मैं अपनी दृष्टिसे देखता हूँ, सोचता हूँ—मेरे यशपालके भाग्यमें राष्ट्र

की पताकाका दण्ड बनना नहीं था, वह राष्ट्रके नव-निर्माण-मन्दिरकी नींवमें एक ईंट बनकर सदाके लिए जुड़ गया।

यशपाल सिर्फ यशपाल था, पर अपनी कर्मनिष्ठ मृत्युसे वह राष्ट्रके उन शत-शत कार्यकर्ताओंका मेरे लिए तो प्रतीक ही हो गया, जिन्होंने राष्ट्र की स्वतंत्रताके लिए अपने जीवनका सर्वोत्तम ही नहीं, अपना सर्वोत्तम जीवन ही अर्पण कर दिया; और यों मूक-निष्काम रहकर कि जैसे उनका जीवन उपयोग या उपभोगकी कोई वस्तु न होकर, पूजाका एक अक्षत ही था!

श्री शम्भुनाथ 'शेष'

सुबह और शामकी आँख-मिचौनीमें बरसों निकल गये। इस बीच न जाने क्या-क्या देखा और क्या-क्या सुना। वह सब क्या मुझे याद है? सोचता हूँ, सब देखा-सुना मनुष्यको याद रहा करता, तो वह देवता बन जाता या पागल?

सब कुछ किसे याद रहता है, पर कुछ शब्द और आकृतियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें हम देख-सुनकर भूल नहीं पाते, भुला नहीं पाते। सोचता हूँ, मनुष्य सब देखा-सुना भूल जाया करता तो वह देवता होता या पागल!

मेरे नगरमें एक कवि-सम्मेलन था और उसमें दिल्लीसे अनेक कवि बन्धु पधारे थे। मिलने गया, तो उनमें एक अपरिचित चेहरा। लम्बा कद, बाल और वेष दोनों अस्त-व्यस्त, मुख पर सरलता, मुद्रामें सरसता! आँखों में शील और व्यवहारमें संकोच। सोचा, कविता-सुन्दरीका कोई नया शिकार है, पर रातमें जब उसने अपने सादे स्वरमें पढ़ा—

यही याचना करती है सागरसे सरिताकी व्याकुलता,
अपने मनकी बात कह सकूँ तुझमें लय होनेसे पहले!

तो मैं अपनी जगह बैठाका बैठा रह गया और मैंने सोचा—यह शिकार कहाँ है, यह तो शिकारी है, जिसकी एक ही चोट पर कई-कई भाव स्वयं चुटीले हो खिंचे चले आते हैं।

दूसरे दिन गोष्ठीमें उसकी कुछ रचनाएँ सुननेका मौका मिला, तो मैंने सोचा—यह कवि-सम्मेलनका गायक नहीं, कवि है और एक कविके नाते निश्चय ही इसका भविष्य उज्ज्वल है। यह श्री शम्भूनाथ 'शेष' थे, जिन्हें उस दिनके बाद मैं भूल नहीं पाया, भुला नहीं पाया। उस दिन मैं उनका

भाई साहब बता तो फिर बना ही रहा और वह मेरे शेष भैया बने, अपनी मृत्युके दिन तक बने ही रहे।

आजका आदमी बहिर्मुखी है। फरनीचरसे अपना धरातल नापता है, पर फरनीचरमें भी अच्छी लकड़ी नहीं, अच्छी वारनिश माँगता है। आज का साहित्यिक अपनी साधनाके बल नहीं, मित्रोंके प्रचारकी नींव पर साहित्यमें अपना स्थान बनाना चाहता है। एकान्त उसका बल नहीं, किसी पत्रमें छपे अपने चित्र पर उसका विश्वास है, पर शेष उनमें एक थे जो चुपचाप अपनी उस साधनामें लीन रहते हैं, जो ईंट-ईंट रख भवनका निर्माण करती है। कहूँ कि शेष एक अन्तर्मुख साधक थे।

मैं एक बहनको जानता हूँ जिन्हें अपना घर बहुत स्वच्छ रखनेका शौक है। वह दिनमें कई बार अपने घरकी देखभाल करती हैं और इधर-उधर जो कागज-पत्तर पड़ा पाती हैं उसे खिड़कीसे बाहर फेंक देती हैं। जब-जब मैं उनके घर गया हूँ और मैंने घरके भीतरकी निर्मल स्वच्छता एवं बाहर पड़े कागज-पत्तरोंको एक साथ देखा है, मुझे शेष भैयाकी याद हो आई है। उनकी बाहरी असंस्कृत-सी अस्त-व्यस्ता उनकी आन्तरिक संस्कृत व्यवस्थाका ही तो प्रतिरूप थी।

वह इतने सरल थे कि दूसरोंमें उन्हें अनायास गुण दिखाई दे जाते थे और दूसरोंके दोष उभरकर सामने ही आ खड़े हों, तब भी वह उन पर टार्चकी रोशनी नहीं, परदा ही डालना उचित समझते थे। कई बार मित्रों की गोष्ठीमें किसीके बारेमें तेर-मेर जोर पकड़ पाती, तो कुछ देर चुप रहते और बीचमें अवसर देख वह कोई नई-सी बात कर इतने ज़ोरसे हँस पड़ते कि इस हँसीसे वह बात ढँक-सी जाती और सारा वातावरण रावणकी लंकासे रामकी अयोध्यामें बदल जाता। तभी याद आ जाते मुझे मेरे एक मित्र जो कुरूपताके प्रति इतने सचेष्ट हैं कि भोजन करनेके बाद जूठे बर्तनोंको साफ तौलिएसे ढक कर ही एक ओर रखते हैं।

स्वभावकी दृष्टिसे शेष भैया अर्धनारीश्वर थे—आधे स्त्री और आधे पुरुष।

उन्होंने छपनेके लिए कभी किसी सम्पादकको अपनी कोई रचना स्वयं नहीं भेजी! "क्यों?" उनका उत्तर था—संकोच होता है।

किसी गोष्ठीमें भी अपनी रचनाओंके सम्बन्धमें उन्होंने कभी एक इशारा नहीं किया। "क्यों?" उनका उत्तर था—संकोच होता है।

उन्होंने बड़े लोगोंसे लाभदायक सम्पर्क स्थापित करनेके अवसरोंका कभी उपयोग नहीं किया। "क्यों?" उनका उत्तर था—संकोच होता है।

तो यह आदमी बेहद संकोची था, पर यही आदमी सिद्धान्तके लिए अड़ा है और जब जरूरत हुई तो लड़ा भी है। तभी तो मैं कहता हूँ, शेषजी अर्धनारीश्वर थे,—आधे स्त्री, आधे पुरुष।

पंजाबकी फरीदकोट रियासतमें नानाके घर शम्भुनाथका जन्म हुआ संवत् १९७२ विक्रमीमें। लोरियोंके भीने स्वरोंमें वह सोये और गीतोंके कोमल स्वरोंमें वह जागे। ये स्वर वातावरणमें रल-से गये, पर कोई न जान पाया कि नन्हें शिशुने उन्हें मानसके आँचलमें चुपचाप बटोर लिया है।

पले, बढ़कर मदरसेका द्वार लाँघा और चौथे दरजे तक चलते चले, पर पाँचवेमें आये कि पुस्तकें बाँधनेमें भली और खोलनेमें जहर दीखने लगीं। जैसे-तैसे सातवेंमें आये कि आवारगीका हाथ पकड़ा। घरसे स्कूल जाते, पर पहुँचते नहरपर; पैर स्कूलकी ओर बढ़ते, पर दिल उन्हें जंगलकी ओर ला छोड़ता; कुंद जहन न थे; यों भी आठवें दरजेका मोर्चा जीत गये।

चौथी क्लाससे ही कविताएँ प्रिय थीं। आठवेंमें आये कि एक चढ़ाव आया और अँगुलियाँ और हृदय एक साथ कागज पर मिले तो पंजाबीमें प्यार भरी चन्द सतरोंने जन्म लिया। आवारगीको कढ़ीमें उबाल आ गया।

अभिभावकोंने स्कूल न भेजकर मेहमानकी तरह घरमें पूजना ही कल्याण-कारी समझा और यों शम्भुनाथने दो साल मौज ली।

परिस्थिति उन्हें दिल्ली लाई कि उनका दिल स्कूलसे जुड़ गया—महीनेमें आठ दिन कम थे तब! नौवीं क्लासकी परीक्षामें सबको आश्चर्य कि वह निकल गये और ६ महीने बाद ही इण्ट्रेंस पास भी हो गए। इण्ट्रेंस पास शम्भुनाथ हिन्दीका अ आ इ ई भी नहीं जानते थे और उर्दू इतनी अच्छी लिखते थे कि उनके टीचर दूसरे लड़कोंको चिढ़ाया करते थे।

आवारगीमें लुटनेवाली शक्ति अब पढ़नेमें जुट गई थी और इन्हें अब बी० ए० पास करनेकी धुन थी। धुन साधनोंके पीछे अपना सिर नहीं धुनती, पर पुरुष परिस्थितियोंका दास भी है। कालेजमें पढ़ना सम्भव ही न था। किसीने सलाह दी—मुन्शी फाजिल पास करके बी० ए० करलो। धुन धकेल रही थी, राह सामने थी, एक दिन १५) की पुस्तकें खरीद लाये, पर संयोग कि राहमें ही मिल गये एक हिन्दी-भक्त—"अरे, यह म्लेच्छ भाषा पढ़ोगे?" और जाने क्या-क्या। नानाका घर संस्कृतके विद्वानोंका भंडार है और वहाँ जन्मे-पले शम्भुनाथका पुराना संस्कार जाग उठा और १५) की पुस्तकें ७॥) में बेचकर घर लौटे, पर बेहद खुश।

खुशी-खुशी तख्ती पर बारहखड़ी पढ़ी और अपने आप भूषण परीक्षा की तैयारी करने लगे। अलंकारोंमें गाड़ी अटकी तो श्री छबेशजीके सम्पर्क में आये—श्री छबेश प्राचीन परिपाटीके ब्रजभाषा कवि! शम्भुनाथ ने उनसे अलंकार भी पढ़े, ब्रजभाषामें कुछ कवित्त भी लिखे। पुराना घाव हरा हो उठा, प्यास जागी, पर प्यास न बुझी। तब खड़ी बोलीमें लिखने लगे। बौद्धिक व्यायाम और हार्दिक स्पर्शके अन्तर्द्वन्द्वमें निखरती शम्भुनाथ 'शेष' (हाँ, वह अब कवि शम्भुनाथ 'शेष' थे) की काव्यधाराका रूप इन पंक्तियोंमें है—

स्वर्णिम युगोंसे तेरे योग साधनाके गीत,
आँसूके सितारपर भावनाएँ गाती हैं!
वाणी जहाँ ढूँढ़ती सहारा मौनका है प्राण,
मानस कथाएँ वहाँ दृष्टियाँ सुनाती हैं!
जानता हूँ फिर भी न जाने अनजान क्यों हूँ,
मेरी पहचानी राहें मुझीको भुलाती हैं,
बैठी हुई साँसमें भी आता है जो तेरा ध्यान,
छवि देखनेको वहीं आँखें उठ जाती हैं!

छन्दका प्रवाह ज़रूर मतिरामकी ओर है, बाक़ी सब—शब्द-संगठन और भावशैली—सुमित्रानन्दन पन्तकी ओर। छवेशजीसे शब्दोंके चयन की गहरी सतर्कता ले, 'शेष' प्रवृत्तिके प्रवाहमें बहते कवित्तके निर्झरसे कविताकी सरितामें आ गये। इस धाराकी पहली कविता थी तारोंपर और दूसरी ऊषाके सम्बन्धमें और यों कविता लिखते, पढ़ते-पढ़ाते प्रभाकरकी खिड़की लाँघ एफ़. ए. हो बी. ए. हो गये—यह है १९४०!

परिणाम नहीं निकला और रेडियोकी नौकरी मिल गई। 'शेष' रेडियोके सर्वोत्तम कापीस्ट, जो कापी-प्रतिलिपि करें, गानेके लिए गीत, गजलें चुनें और 'सारंग'के लिए अनुवाद भी करें। एक तरह रेडियोके हिन्दी विशेषज्ञ पूरे रेडियो स्टेशनपर एक मात्र हिन्दीज्ञाता, पर वेतन सबसे कम ४०-४५ रुपए। क्यों? क्योंकि इस धरतीपर मुट्ठियाँ उनकी भरी रहती हैं जो दूसरोंको धकेलकर छीनना जानते हैं, पर शेष, जिन्हें अपने वेतन की बात करते संकोच होता था।

हिन्दीके एक प्रख्यात लेखकका एक भाषण प्रसारित होनेको आया। रेडियो अधिकारीने देखकर राय देनेके लिए उसे अपने एक परिचित छात्रको दे दिया। 'शेष' ने अधिकारीसे इसका प्रतिवाद किया, इसे महान लेखकका अपमान बताया और इसकी सूचना उन लेखक महोदयको दे

दी। अधिकारीपर ऊपरसे झाड़ पड़ी तो वह 'शेष' से खिंचे। कुछ दिन बाद आपसे अनुवादको 'उर्दूनुमा' बनानेको कहा गया, पर आप सहमत न हुए और त्यागपत्र दे दिया। रेडियोमें हिन्दी-आन्दोलनका यह पहला मोर्चा था, पर उसका समाचार भी पत्रोंमें न निकला। यह दुनिया उनकी ही चारण है, जो मारें या न मारें पर उसकी नाकपर घूँसा अवश्य ताने रहें! स्टेशन डायरेक्टर आपसे खुश थे और एक अच्छी नियुक्तिकी सम्भावना सामने थी, पर 'शेष' ने अपनी दृढ़तासे उसे निःशेष कर दिया। विचारणीय है कि जो युवक अपने वेतनकी बात करते सकुचाया, वह सिद्धान्तके प्रश्नपर न लचका, न लजाया!

नौकरी छूट गई, ४-५ महीने बेकार फिरे, कविताएँ लिखीं। एक व्यापारिक फर्ममें नौकरी मिली। काम यों ही था, बैठे कविता लिखा करते—कभी-कभी तो एक दिनमें तीन गीत। लिखते भी, माँजते भी, फाड़ते भी; निखारपर आ गये कि फर्म बम्बई चली गई और 'शेष' अब पी० डब्ल्यू० डी० में अकाउन्ट्स क्लर्क। अफसर खाँ साहब और क्लर्क हिन्दी कवि—"यहाँ शेष साहब काम ही काम देगा, शायरी नहीं!" एक दिन अफसरने कहा, तो 'शेष' का त्यागपत्र उसी दिन उनकी मेजपर—"मैं अपनी कविताका अपमान नहीं सह सकता, खुशीसे भूखा मर सकता हूँ"—पर ऊँचे अधिकारीने त्यागपत्र स्वीकृत नहीं किया।

पी० डब्ल्यू० डी० से 'शेष' स्वयं ही ब्यूरो आफ पब्लिक इनफार्मेशन के 'भारतीय समाचार' विभागमें आ गये। यहाँके भी सुपरिण्टेण्डेण्ट एक साहब। वह देरमें आते, देर तक बैठते। 'शेष' समयपर आते और समय पर चले जाते। एक दिन झल्लाकर खाँ साहबने कहा—"आई कांट पुलॉन विद यू"—मैं तुम्हें नहीं निभा सकता। 'शेष' ने उसी दिन त्यागपत्र दे दिया और उसमें लिखा—"दैट दि रूड एंड रफ बिहैवियर ऑफ माई सुपरिण्टेण्डेण्ट हैज़ कम्पेल्ड मी टु रिज़ाइन फ्रॉम दी अनमैनली जॉब ऑफ ए क्लर्क"—मेरे सुपरिण्टेण्डेण्टके रूखे और अशिष्ट

व्यवहारने मुझे मजबूर कर दिया कि मैं क्लर्कके मनुष्यताविहीन कार्यको त्याग दूँ।

यह है १९५३ ! शेषजी 'फौजी अखबार' के हिन्दी संस्करणमें आ गये। इसकी लिपि देवनागरी थी, पर भाषा उर्दूनुमा फारसी। 'शेष' थे अनुवादक। आपने उसे हिन्दीका रूप दिया। यह हिन्दी फौजी भाइयोंको पसन्द आई। प्रशंसाके ढेरों पत्र दफ्तरमें आये। सम्पादक एक अंग्रेज, सहकारी एक खाँ साहब, इन पत्रोंसे वे चौंके और शेषसे जवाबतलब किया गया कि—"अखबारकी भाषाको तुम क्यों खराब कर रहे हो ?"

एक मामूली कर्मचारीकी झाड़ खाँ साहबके कानोंने पहली बार सुनी—"आपको क्या पता खाँ साहब, कि भाषा किसे कहते हैं, वह कैसी होती है !"—पर पहले इसके कि खाँ साहब अपनी झाड़ शेषके सिर झाड़ें, शेष मिलिटरी इंटेलिजेंसमें आ गये और वहींसे मासिक 'आजकल' के सहकारी सम्पादक हुए। मनका काम था, मेहनतसे किया। साथ भी अच्छा था, खूब निभी और तब खुशी-खुशी रेडियोमें प्रोग्राम असिस्टेण्ट हो गये। दिल्ली रहे, तब जालन्धर और यहीं २२ मई १९५८ को उनकी मृत्यु हो गई।

'आजकल' में रहते समय उनका ध्यान अनेक यशस्वी कवियोंकी भाषाशिथिलतापर गया और इस प्रश्नको उन्होंने बार-बार सोचा। इसी सोचमें उनकी गजलोंका विकास हुआ। हिन्दीमें बहुतोंने गजलें लिखी हैं, पर भाषाके प्रवाह और भावोंकी सुकुमारतामें शेषकी गजलें निराली हैं। इन्हीं दिनों उन्होंने हिन्दीमें रुबाइयाँ पढ़ीं। इनका रंग-ढंग तो जरूर फारसी रुबाईका था, पर छन्द नहीं। यह उनको नहीं रुचा और तब उन्होंने भी कुछ रुबाइयाँ लिखीं, जो पूरी तरह फारसी रुबाईका प्रारूप है। इस तरह उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति गीत, गजल और रुबाईमें फूटी-खिली। बस यही है कवि शेषकी जीवनयात्रा, जिसमें उनकी साहित्य-यात्रा भी सम्मिलित है।

'शेष' कभी वाहवाहीके कोल्हूपर नहीं घूमे—जीवनको उन्होंने कभी एकाङ्गी होकर नहीं देखा। उनकी आँखें देखतीं, हृदय महसूस करता और मस्तिष्क सोचता। बस यह दर्शन, अनुभूति और चिन्तन ही उनकी काव्यधाराके उद्गम थे। उनकी प्रकृति सम्बन्धी कविताओंमें उनका दर्शन है, प्रणय गीतोंमें अनुभूति और दार्शनिक गजलोंमें चिन्तन। वह ठीक तरह सोचते थे, ठीक तरह महसूस करते थे। उनका व्यक्तित्व स्वस्थ था—उनका साहित्य स्वस्थ है; 'शेष' एक स्वस्थ साहित्य-साधक थे।

भाव और उनके प्रकाशनकी शैली की दृष्टिसे समानशील कवियोंके फोटो उतारनेका किसीको शौक हो, तो उसे शेषके दो फोटो उतारने पड़ेंगे। एक हिन्दी काव्यके गौरवमणि श्री सुमित्रानन्दन पन्तके साथ और दूसरा हिन्दी कवितामें इन्सानके नुमायन्दे श्री हरिवंशराय बच्चनके साथ। 'शेष' को भावोंके प्रकाशन की शैलीमें पन्तके साथ और जीवनको देखने की शैलीमें बच्चनके साथ खड़ा करना पड़ेगा। गजलोंके प्रयोगमें अपनी साधनासे हिन्दी कविताको 'शेष' निश्चय ही एक नया मानदण्ड दे गये और जीवनके प्रयोगमें तरुणोंको सदा सरल रहकर भी कभी न झुकनेका एक वर्चस्वी सन्देश।

* * *

उनका पहला कविता-संग्रह 'उन्मीलिका' छप रहा था और मुझे उसकी भूमिका लिखनी थी, पर मैं थका मारने वाली फ्लूरिसीमें जकड़ा हुआ था। उनका पत्र आया तो मैंने लिखा कि मैं रोगसे घिरा हुआ हूँ, स्थिति निश्चित नहीं है, आप किसी औरसे लिखा लें भूमिका। तुरन्त उत्तर आया—"भाई साहब, यही तो तय हुआ है कि पुस्तक छपेगी, यह तो नहीं तय हुआ कि इसी मास छपेगी। जब आप पूरी तरह स्वस्थ हो जायें, भूमिका लिखें। तब तकके लिए छपे हुए फर्में बँधवाकर रख रहा हूँ।"

प्रातः ६ बजे डाकमें यह पत्र मिला, तो मुझे नशा हो गया। उसी नशेमें मैंने रातके दो बजे तक भूमिका लिखी और दूसरे ही दिन उन्हें भेज दी। यह उनकी निष्ठाका ही तो नशा था।

उनकी रचना तो मुझे कभी बिना माँगे मिलती न थी, पर अपनेसे जूनियर साहित्यिकों की रचनाएँ वह अक्सर मुझे भेजा करते थे। उनसे मुझे मिलाया करते थे, उनकी रचनायें छापनेका आग्रह किया करते थे।

बस, उनके दो संस्मरण और—एक प्रकाशकको भेजनेके लिए मैंने उनकी गजलों और रुबाइयोंका नया संग्रह मँगाया, पर प्रकाशकने उसे स्वीकार नहीं किया तो मैंने लौटा दिया। साथके पत्रमें लिखा—"दुःख है कि मैं यह संग्रह उनके गले नहीं उतार सका।" तुरन्त कार्ड आया—"यह संग्रह किसीके गले उतारना पड़े, इस लायक है, तो आपने भाई साहब, इसे जला क्यों नहीं दिया!"

उन्हें एक मित्रने अपनी मेहनत और असरसे एक संस्थामें किसी पद पर बैठाया, पर बादमें उन बैठानेवालोंका सबसे मतभेद हो गया और स्वयं उनका वहाँ ठहरना असम्भव हो गया। मैं मिला, यह स्थिति जानी, तो पूछा—"अब तुम्हारा क्या निर्णय है?"

बोले—"मैं सदा उनका कृतज्ञ हूँ, पर भाई साहब, वह दुश्मन बनाने की कलामें प्रवीण हैं, इसमें तो मैं उनका साथ नहीं दे सकता।"

यह थे शेबजी; सरल होकर भी सुलझे हुये, सादे-सीधे होकर भी बाँके, आकांक्षी होकर भी साधना-विश्वासी, सबके अपने, सबको सुलभ; सचमुच कितने अच्छे और प्यारे इन्सान थे शेष भैया!

हमारा बहुरूपिया

मैं बहुरूपिया हूँ !

"बहुरूपिया ?"

जी हाँ, बहुरूपिया, पर यह तो बताइए कि मुझे देखकर आपका नाक क्यों सिकुड़ गया। आपके सुरकी तितलियाँ गिरी-पड़ी-सी क्यों उड़ने लगीं; जैसे उनके पंखोंपर शहदका प्लास्टर हो गया हो।

यह लीजिए, आप मेरी तरफ़ इस तरह देख रहे हैं, जैसे मैंने आपकी टोपी सरे बाज़ार उछाल दी हो और मुझसे आपकी कुछ बेइज्ज़ती हो गई हो ! यकीन कीजिए, मैंने आपकी कोई बेइज्ज़ती नहीं की और भले आदमी, भला मैं आपकी कोई बेइज्ज़ती करूँगा भी क्यों ? न कभी आपने मेरे लड़के या लड़कीके रिश्तेमें कोई भांजी मारी, न अपना पतनाला मेरे चौकमें उतारनेकी कोशिश की।

हाँ एक बात और भी है, जिससे कोई किसीकी बेइज्ज़ती करनेपर उतारू हो जाता है। वह यह कि जब कोई किसीसे इज्ज़तमें, सामाजिक मर्यादामें आगे निकलने लगता है, तो दिलमें कुढ़न पैदा होती है और इस कुढ़नमें आदमी मौक़े-बे-मौक़े या मौक़े-ब-मौक़े बेइज्ज़तीपर उतारु हो जाता है, पर मेरे आपके बीच ऐसी भी कोई बात नहीं है और यह बात हो ही कैसे सकती है, जब कि मैं बहुरूपिया हूँ और आप भी बहुरूपिया हैं।

"अरे साहब, तुम होशमें हो या नहीं ? कहीं सुबह ही सुबह तो आज नहीं पी ली कि राजाका हाथी तुम्हें कटड़ा दिखाई देता है।"

क्यों भाई ! मैंने ऐसी क्या बात कह दी कि आपको राजाके हाथीकी बात याद आई ? मैं हमेशासे पीने-पिलानेका विरोधी हूँ। याद नहीं आपको,

उस बार मैंने शराबीका कैसा बहुरूप बनाया था और कैसे उसकी दुर्गति दिखाई थी। खुश होकर जिन लोगोंने मुझे इनाम दिये थे, उनमें सबसे बड़ा इनाम तो आपका ही था—वह एक रुपया !

जी हाँ, मुझे अभी तक याद है कि आपने मुझे विक्टोरियाका रुपया दिया था, जिसमें बहुत चाँदी होती थी और याद क्यों नहीं, आपको शायद याद हो कि मैंने रुपया हाथमें लेते ही उसमें तीन चुटकियाँ लगाई थीं और वह ट्रन-ट्रन बोला था। कोयलकी भी आवाज मीठी होती है और पपीहेकी भी, पर इस ट्रनकी आवाजमें जो मिठास है, वह किसीमें नहीं। मैं उसे कैसे भूल सकता हूँ ?

"हाँ, यह सब मुझे याद है, पर मैं तो यह कह रहा हूँ कि तुम मुझे बहुरूपिया क्यों बता रहे हो ? क्या तुम नहीं जानते कि..."

जी हाँ, जी हाँ, मैं जानता हूँ कि आप एक बहुत अच्छे पत्रके सम्पादक हैं, पर इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि आप बहुरूपिया नहीं हैं। नैपोलियनका नाम सुना है आपने ? पूछना क्या है इसमें, सुना ही होगा और सुना क्या आपने तो पढ़ते-पढ़ते उसके जीवन-चरित्रके पन्ने घिस डाले होंगे। अरे साहब, आखिर सम्पादक हैं आप ! अच्छा सम्पादकजी यह बताइए कि नैपोलियन बहुरूपिया था या नहीं ?

"अजीब आदमी हो तुम ! अभी-अभी तो मुझे ही बहुरूपिया बना रहे थे, अब नैपोलियनको बहुरूपिया बनाने लगे ! सच बताओ दोस्त, तुम होशमें तो हो ?"

होश ? भाईजान, इसमें न होश की गुंजाइश है, न जोश की; यह तो इतिहासकी बात है। नैपोलियनकी चाय-पार्टीमें उनके एक फौजी अफ़सर भी अपनी पत्नीके साथ उस दिन आये थे। पत्नीमें व्यक्तित्व था—उपयोगिता थी। सम्राट्ने चाहा कि उससे घनिष्ठता हो ! यह उनकी इच्छा शक्ति थी या उनके नौकरोंकी चतुरता, परसते हुए चाय उसके कपड़ों पर आ गिरी।

सम्राट्ने अपने आदमियोंसे कहा—"श्रीमतीको स्नानगृहमें ले जाओ और नये कपड़े तुरन्त पहुँचा दो। आप कपड़े बदल लें, तो चाय आरम्भ हो। मैं भी तब तक एक काम करके आता हूँ।"

सम्राट् उठ गये और श्रीमतीजी स्नान-गृहमें पहुँच गईं। कुछ मिनटों बाद एक बैरा नये कपड़े लिये श्रीमतीजी के पास आया। मैं आपको लम्बा नहीं खींचूँगा, यहीं बता दूँगा कि यह बैरा स्वयं सम्राट् नैपोलियन थे और अब श्रीमतीजी उनकी मित्र!

अब बताइए आप कि नैपोलियन बहुरूपिया था या नहीं? अब तो मान गये या अब भी आपका वही हाल है कि आँखोंमें इकरार है, पर मुँहमें इनकार है; यानी इकरार भी है, इनकार भी है?

"ठीक है तुम्हारी यह बात, नैपोलियनका यह संस्मरण मैंने भी पढ़ा था। चलो, मान गये हम कि नैपोलियन भी बहुरूपिया था या यों कि नैपोलियन बहुरूपिया भी था, पर तुम मुझे क्या खाकर बहुरूपिया बता रहे थे, यह तो बताओ?"

आप? आप तो भाईजी, बहुरूपिया नहीं बहुरूपियोंके चौधरी हैं। हम किसकी माको मा कहकर आपका मुकाबला करेंगे। हम तो तनका ही रूप बदलते हैं, पर आप तो मनसे बहुरूपिया हैं—आपका हमारा भला क्या मुकाबला!

"बहुरूपियों के चौधरी! मनके बहुरूपिया!! यह सब क्या खुराफात तुम्हें आज सूझ रही है; आखिर बात क्या है?"

खुराफ़ात? कैसी खुराफात? इसमें न कहीं खुराफात है, न आफत, यह तो एक सीधी-सच्ची बात है और बात भी अपनी नहीं, आपकी। उस दिन देखी-सुनी थी, आज कह दी।

अच्छा लीजिए, यों नहीं मानेंगे आप और आपका शीशा आपको दिखाना ही पड़ेगा। आप अपने मित्र सरदार बसन्तसिंहको तो अभी नहीं भूले होंगे। उस दिन उन बिचारोंका छोटा लड़का मर गया, तो सहानुभूति

प्रकट करने आप भी वहाँ गये। आपने उस होनहार बालककी गाथा यों गाई, यों गाई कि आपकी आँखें आँसुओंका पतनाला बन गईं, पर उसके घरसे बाहर निकलते ही आपने कहा—एक पिल्लेके मर जानेपर कम्बख्तने सारा मुहल्ला सिर पर उठा रखा है और यह हाल तब है, जब कि सात भैंसे और हैं कि चाहे तो उन्हें कटनेके लिए जर्मनीकी लड़ाईमें भेज दे।

अब बताइए कि आप बहुरूपिया हैं या नहीं, अरे साहब! आपका हमारा क्या मुकाबला? कहा नहीं मैंने कि आप तो बहुरूपिया नहीं, बहु-रूपियोंके चौधरी हैं।

मैं देख रहा हूँ कि आप मेरी बात पर मुसकरा रहे हैं और मैं देख रहा हूँ कि इस मुसकराहटमें एक हल्का भाव है। वह यों कि अरे, मैं क्यों होता बहुरूपिया! तो साफ़ शब्दोंमें बहुरूपिया होना अप्रतिष्ठा–बेइज़्ज़तीकी बात है। कमसे कम यह तो है ही कि प्रतिष्ठा–इज्जतकी बात नहीं है, यह आपकी राय है!

आपका मुँह बन्द है और जीभ भी नहीं हिली, पर भाव-भंगिमासे साफ है कि आप इससे सहमत हैं, पर क्षमा कीजिए, मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मैं इससे भी सहमत नहीं हूँ कि आपको अपनेसे सहमत किये बिना छोड़ दूँ।

लीजिए, बहुरूपियाके पद-सम्मानको सिद्ध करनेके लिए युक्तियाँ और तर्क तो १०० हैं, पर इनमेंसे एक ही आपके सामने रखता हूँ। आप सहमत होंगे कि सिकाईसे काम चल जाय, तो आपरेशन क्यों किया जाय।

वह एक बात यह है कि बहुरूपिया कलाके एक महान् साधक स्वयं भगवान् विष्णु हैं।

"क्या? बहुरूपिया कलाके महान् साधक स्वयं भगवान् विष्णु हैं? आज ज़रूर तुमने दोस्त भंग पी है और भंग भी अनछनी।"

जी, यहाँ न भगंका प्रश्न है, न जंगका, यह तो धर्मका अमृत है कि छाने पिओ या अनछाने और जाने पिओ या अनजाने अमृत ही अमृत है।

तो धर्मकी साक्षी है कि भगवान् विष्णु इतने बड़े बहुरूपिया हैं कि उनके नामोंकी संख्या ही एक हज़ार है–सुना नहीं आपने विष्णु-सहस्र-नाम और रूप तो उनके इतने कि विष्णु-सहस्र-नामका लेखक उनका वर्णन करनेकी हिम्मत ही नहीं कर सका और 'अनेक रूप-रूपाय' कह कर चुप हो गया !

अब भी बहुरूपियेकी पद-प्रतिष्ठामें शक करेंगे और उसे समाजकी कोई मामूली चीज़ मानेंगें आप ? मामूली चीज़ नहीं, बहुरूपिया तो समाजका संरक्षक है। वह न हो, तो समाज रोनी सूरतोंका एक अखाड़ा बन जाये।

"मान गये भाई, हम तुम्हारी बात, सचमुच बहुरूपिया समाजकी एक विभूति है, एक रत्न है। अच्छा, तो अब तुम अपनी कलाके कुछ अनुभव सुनाओ, तो हम इसे तुम्हारी कृपा मानें।"

अनुभव ! अनुभव तो हज़ारों हैं, पर लो एक दो बानगियाँ दिखाता हूँ आपको !

राजा ज्योति प्रसाद अपने समयके प्रतापी पुरुष थे। वे सबके अपने थे, इसलिए सब उनके थे, सब उनका हृदयसे मान करते थे। उनके दरवाज़ेसे कोई खाली नहीं जाता, यह आम कहावत थी। मैं भी उसदिन गर्जमन्द था। डाकियेका रूप बनाकर जा पहुँचा। समयकी बात राजा साहब बाहर बागमें ही बैठे थे। मैंने एक लिफ़ाफ़ा उनकी तरफ बढ़ाया। देखकर बोले—हमारी डाक तो आ चुकी है। भागो, यह नकली लिफाफा किसी औरको देना और वे ज़ोरसे हँस पड़े।

मेरे लिए इसका मतलब साफ़ था कि मेरा निशाना खाली गया। बहुरूपियेकी कलाका सारांश ही यह है कि धोखा दो, तो इनाम लो। दुनिया भरमें धोखा देने वालोंको दण्ड मिलता है, पर बहुरूपियेका इनाम इसी बात पर निर्भर है कि वह कितना गहरा धोखा देसका !

खैर ! मैं राजा साहबको सलाम कर लौट आया, पर कोई तीन दिन

बाद ही एक चपरासी दौड़ा हुआ राजा साहबके पास आया और बोला—"हुजूर, खजानेमें खजांचीने गबन कर लिया। पुलिस आ गई है और मैनेजर साहबने उस खजांचीको थाम लिया है, आपको फौरन बुलाया है। हुजूर, बहुत बड़ा गबन है, खजानेमें चाँदना ही हो गया !"

सुनते ही राजा साहब सकपकाये और कपड़े बदलते-बदलते उन्होंने गाड़ी लानेका हुक्म दिया; वे सरकारी खजानेके बड़े खजांची थे। गाड़ी आ गई और वे उसमें चढ़ने लगे, तो उस चपरासीने सलाम करके कहा—"हुजूर आजका लिफाफा तो असली है? लाइए, इनाम दिलवाइए !"

एक बार तो राजा साहब तमतमा गये, पर तुरन्त हँस पड़े और याद रखने लायक इनाम दिया ! आप समझ गये होंगे कि यह चपरासी मैं ही था, जो उस दिन डाकिया बनकर पिट आया था।

एक और अजीब बात बता दूँ आपको कि सब कलाओंका केन्द्र नगर हैं, पर बहुरूपियेकी कलाका मुख्य केन्द्र नगर नहीं, गाँव है।

"यह क्या बात है भैया ?"

बात सीधी है कि इस कलाकी सफलता है धोखा देना और धोखा खाता है सीधा-सरल आदमी। गाँवके आदमी सरल होते हैं और झट विश्वास कर लेते हैं। रानीपुरके मुखिया ठाकुर झगड़ूसिंहका नाम ही झगड़ू नहीं काम भी झगड़ू ही था। उनका ऐलान था कि मेरे गाँवमें कोई बहुरूपिया घुसेगा, तो उस पर जूते पड़ेंगे। यह हमारे पूरे पेशेका ही अपमान था।

ठाकुर झगड़ूसिंहके बड़े बेटेकी शादी थी और गाँवमें गाड़ियोंके रास्ते बारात जानी थी ! झगड़ूसिंह इस शादीको अपनी प्रतिष्ठाका थर्मामीटर बनानेपर तुले हुए थे। इसलिये उन्होंने इलाके भरके सर्वोत्तम रथ, रहड़ू और बहलियाँ और बैल इकट्ठे कर लिये, जिनमें बैठकर उनकी बारात जानेवाली थी। उन्होंने सब गाड़ियोंकी लाइन लगाई और खुशी-खुशी अपने बरातियोंको उनमें बैठाया।

बारात चलने ही वाली थी कि अपने घोड़ेपर सवार एक थानेदार आ खड़ा हुआ। थानेदार उस ज़मानेका यमराज होता था। उसे देखकर सब चौंके, सकपकाये, पर थानेदारने तभी कड़क कर कहा—ये ३० गाड़ियाँ हैं, इनमेंसे ५ में बारात जायगी और २५ के बैल सदरमुकाम पहुँचेंगे। कल गवर्नर शिकारके लिए आ रहे हैं। रातभरमें उनका सामान जंगल पहुँचाना है। गाड़ियाँ तो हमारे पास हैं, पर इलाकेके सब अच्छे बैल यहाँ आ गये हैं। कप्तान साहबका हुक्म है कि दोपहर तक सब बैल उनके बँगले पर पहुँच जाएँ।

बारातियोंके दिलकी धड़कन तो बढ़ी ही, पर ठाकुर झगड़ूसिंहका तो खून ही जम गया। यह बारात ले जानेका ही सवाल नहीं था, यह तो उनकी पूरी मान-प्रतिष्ठाकी ही तराज़ू तुल गई थी। ठाकुर साहब समझ गये थे कि नरमीसे ही कुछ हो सकता है। इसलिए वे घोड़ेके पास पहुँचे और बारातियोंकी आँख बचाकर उन्होंने थानेदारका पैर पकड़ लिया और बोले—आप ज़रा कमरेमें चलकर मेरी बात सुन लें। फिर आप जो कहेंगे करूँगा।

थानेदार कमरेमें पहुँचा, तो झगड़ूसिंह रो पड़े और उसके पैर पकड़नेको झुके। उनके कन्धे पकड़कर मैंने कहा—हुजूर सलाम, मैं तो आपका बहुरूपिया हूँ।

किस्सा कोताह, ठाकुर साहबने १०० रुपये इनाम दिये, बहुरूपियोंकी पाबन्दी हटाई और मुझे हाथ जोड़कर चुपचाप बिदा कर दिया; ताकि वे बारातियोंसे डींग मार सकें कि मैंने थानेदारको यों डाटा और यों फटकारा कि वह अपना-सा मुँह लिये नौ-दो-ग्यारह हो गया!

"यह तो बहुत जोरदार कहानी सुनाई तुमने और इससे साफ है कि बहुरूपिये की कलाका मुख्य केन्द्र शहर नहीं, गाँव है।"

जी हाँ, आपकी बात ठीक है, पर बहुरुपियेके लिए गाँव अब उजड़ रहे हैं।

"गाँव उजड़ रहे हैं ? भले आदमी, गाँव तो अब लहलहा रहे हैं। कहाँ जमीदारीके मारे, उस युगके गाँव और कहाँ सामुदायिक योजनासे तरोताजा हुए नये गाँव !"

जी, मैं कह रहा हूँ कि बहुरूपियेके लिए गाँव अब उजड़ रहे हैं। बात यह है कि ज़मीदारी अब रही नहीं, वरना कारिन्दा बनकर बहुरूपिया धौंस-पट्टी जमा लेता था, पंचायतें बन गईं, तो तहसीलके चपरासी बनकर बेगार लेने या बेदखली की खबर सुना देनेका भी ढंग नहीं रहा ! डाकखाने भी गाँव-गाँवमें खुल गये, इसलिए अब नकली लिफाफे भी नहीं जमते और ये ही कमाईके रास्ते थे। अब तो यही है कि पंडितजी बनकर हाथ देख दिया या नूँ-तूँ करके लोगोंको हँसा दिया तो चार पैसे मिल गये।

"ओहो, तब तो कहना चाहिए कि देशका बहुरूपिया भी नये युगका एक प्रतीक है।

हाँ, नया युग; जिसमें पुरानी दीवारें टूट रही हैं और नयी इमारतें बन रही हैं।"

ये चरित्रहीन

रम्मो थी अपने नगरकी रूपरमणी वारांगना और कुँवर बलदेवसिंह उसी नगरके रईस। दोनोंमें गहरे सम्बन्ध थे। यों रम्मोका घर सबका घर था, पर काली आँखों कोई उसके कोठे कदम रखे, तो झाड़ू ही वहाँ मोरछल थी।

कुँवर साहब महीनेकी पहली तारीखको कुछ हरे पत्ते उसके हाथों रख देते और बीचमें कभी साड़ियाँ, तो कभी अंगूठीका दौर चलता ही रहता। सच यह कि उसे लेना आता था, इन्हें देना। वह मुसकरा कर लेती, ये हँस कर देते—उसे रूठना आता, तो इन्हें मनुहारें। रम्मो उनके लिए मेनका थी, तो वे उसके लिए कल्पतरु। एकमें एक दोनों जिये जा रहे थे।

रातमें आठ-नौ बजे कुँवर साहबकी चमचमाती मोटर रम्मोके द्वार आ लगती, द्वार खुलता, रम्मो महकती सामने मिलती और दोनों चहकते भीतर चले जाते। द्वार बन्द हो जाता और कभी एक बजे तो कभी दो बजे वह खुलता। राजू भड़भड़ा कर उठता, मोटरकी खिड़की खोल खड़ा होता, रम्मो कुँवर साहबको सीट पर बैठाती, लाड़ देती, लाड़ लेती, कुँवर साहब घर आ-सोते।

चुटकी मारते बरसों निकल गये। एक दिन हस्बमामूल कुँवर साहब पहुँचे, तो रम्मोने उन्हें पलंग पर नहीं कुरसी पर बैठाया और सकुचाई-सी बोली—"माफ कीजिएगा, मुझे आपसे कुछ ज़रूरी बातें कहनी हैं।"

"हाँ, हाँ, ज़रूर।"

कुँवर साहबके कान प्रतीक्षा करते रहे और रम्मो धरती पर आँखें गड़ाये खामोश रही। कुँवर साहबने देखा और बढ़ावा-सा देते हुए बोले—

"तुम्हारे-मेरे बीच तो झिझकका खटोला कभी नहीं बिछा; कहो क्या बात है ?"

"अगर आप इजाज़त दें और दुखी न होनेका वादा करें, तो मैं शादी करके इज्ज़त-आबरूकी ज़िन्दगी गुज़ारना चाहती हूँ !"

कुँवर साहब कुछ देर अपनेमें खोये रहे और तब बोले—"किसीसे तुम्हारी बातचीत होगई है और तुम्हें उसका भरोसा है ?"

"जी हाँ, पूरा-पूरा !"

"तो हमारी तुम्हारी दोस्ती खत्म रम्मो ?" कुँवर साहबने बहुत गहरे दर्दको दबाकर कहा !

"जी, वे तो कहते हैं यह जारी रहनी चाहिए ।"

"वे क्या कहते हैं कि यह जारी रहनी चाहिए ?"

"जी हाँ, वे कहते ही नहीं, बज़िद हैं कि यह घर आपके लिए हमेशा ज्योंका त्यों खुला रहे, क्योंकि उन्होंने तुम्हें बनाया-बचाया है और तुम पर उनका हक नम्बर एक है । मैं नहीं चाहता कि उनकी ज़रा भी दिल-शिकनी हो ।"

कुँवर साहब गुम—"पर उनकी एक शर्त है !" धीमेसे रम्मोने कहा, तो बहुत ही धीमेसे बोले—"क्या ?"

"यही कि अब कुँवर साहबको एक भी पैसे की तकलीफ देना हराम समझा जाये, यह ज़िम्मेदारी मेरी रहे ।"

कुँवर साहब और भी गुम—

"पर मुझे यह मंजूर नहीं है ।" रम्मोका कण्ठ फूटा ।

"तुम्हें क्या मन्जूर नहीं है ?" चौंक कर कुँवर साहबने पूछा ।

"यही उनकी पहली बात ।" रम्मोने जरा कड़े होकर कहा और तब वह पिघली—"कुँवर साहब, आपने ही तो सिखाया है कि दो नावोंकी सवारी जहालत है !"

कुँवर साहब बहुत देर तक सोचते रहे, तब बोले—"तुमने उस आदमीको खूब तोल लिया है?"

"जी हाँ, वह भौंरा नहीं, छतका खम्भा है।"

कुँवर साहबने बहुत गौरसे रम्मोकी तरफ देखा, देखते रहे, देखते ही रहे, तब पूछा—"तुमने यह सब कैसे जाँचा भला?"

"मैं क्या जाँचती कुँवर साहब, वे खुद जँच गये। पिछले दस महीनों में हम घन्टों-घन्टों साथ रहे। मैं बहुत बार फिसली, मुलायम पड़ी, पर वे कभी पल भरको भी अपनी जगहसे न हिले और अभी ३-४ दिन पहले उन्होंने कहा—"रम्मो! मैं एक बार भी तुम्हें बिजलीके बाजारू खम्भेकी तरह छू लूँ, तो फिर घरका दिया कैसे बनाऊँगा?"

बस ठीक है, मेरी दुआ है, रम्मो, तुम सुखी रहो।" कुँवर साहबने रम्मोका सिर थपथपाया और खड़े हो गये।

"क्यों, कहाँ चले, अभी तो ९॥ ही बजे हैं?" रम्मोने चौंक कर पूछा, तो बोले—"साढ़े नौ? नहीं रम्मो, आज तो सब बज गये! और उन्होंने अपनी घड़ीकी चाबी इतने ज़ोरसे ऐंठी कि उसका फनर टूट गया।

वे चल पड़े। रम्मो उनके साथ चली, पर द्वार पर वे रुके और बोले—"बस, अब इसके बाहर नहीं।" और स्वयं बाहर निकलते निकलते बोले—"कल उसे मेरे पास भेजना, बिना तकल्लुफ कोठी पर चला आये!"

दूसरे दिन एक युवक उनके पास आया। नाम शमशाद, देखनेमें सुन्दर, व्यवहारमें नम्र। देखते ही बोले—"जोड़ी तो ठीक है।"

तब पूछा—"तुमने कैसे जाना शमशाद कि रम्मोके साथ तुम सुखी रह सकोगे?" रुकते रुकते बोले—"उसकी आजकी जिंदगी तो तुम्हारे सामने ही थी!"

बहुत नरमीसे शमशादने कहा—"पिछले दस महीनोंमें जब जब रम्मो से मैंने अपनी बात कही, उसने एक ही जवाब दिया—मेरा दिल चाहता

है कि मैं तुम्हारे साथ घरकी ज़िंदगी गुज़ारूँ, पर कुँवर साहबसे मेरे वादे हैं। मैं उनकी इजाज़त मिले बिना कुछ नहीं कर सकती! बस कुँवर साहब मैंने मान लिया कि जिसके लिए अपनी इस ज़िंदगीके वादोंकी वफा इतनी वजनदार है, वह उस ज़िंदगीमें कभी बेवफा नहीं हो सकती।"

उसी दिन रातमें ८ बजे कुँवर साहबकी मोटर फिर रम्मोके द्वार आ लगी। रम्मो रपटी-झपटी आई, पर गाड़ीमें कुँवर साहब न थे, सिर्फ उनका ड्राईवर था। कपड़ेमें लिपटा हुआ एक डब्बा रम्मोको देकर उसने कहा—"यह भेजा है आपके लिए!"

रोशनीमें ले जाकर रम्मोने देखा—एक बहुत ही खूबसूरत डब्बेमें सोनेके ज़ेवर सजे थे—एकसे एक सुन्दर और एकसे एक कीमती!

रम्मो रो पड़ी और जाने कब तक रोती रही। धर्मकी साक्षी है, अब वह दूधधोई कुमारिका थी!

[२]

राय बहादुर लाला नारायणप्रसाद सामन्ती युगमें जिलेकी एक शक्ति थे; और तो और अंगरेज कलक्टरके सामने भी वे न दबते थे—खरी कह देते थे।

उन दिनोंके ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट आम तौर पर पुलिसके एजेन्ट होते थे। पुलिसका चालान और आनरेरी मैजिस्ट्रेटकी अदालत; बस वकील लाख सिर पटके और नज़ीरोंके नब्बे बस्ते खोल फेंके, जो आया जेल गया। छूटना जमकी जाड़से निकल भागना था।

लाला नारायणप्रसाद भी ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट थे, पर उनकी मैजिस्ट्रेटी नाममें ही नहीं, सचमुच स्पेशल थी। जिसे छोड़ना चाहते, छोड़ देते और तोड़ना चाहते, तोड़ देते। वे हमेशा अपनी कलमसे अपने फैसले लिखते और उनकी कलमका रुख़ सदा उनके ही इशारों पर चलता-बदलता।

उनकी अदालतमें पुलिसका एक चालान आया। पुलिस एक खतरनाक आदमीको जेल भेजना चाहती थी, पर उसके खिलाफ शक तो थे, सबूत नहीं। पुलिसने एक चोरीके मामलेमें उसे भी लपेट दिया। किस्मतका करश्मा कि मुकदमा आ पड़ा लाला नारायण प्रसादकी अदालतमें। पुलिस ने लाख हाथ मारे और पैर पीटे, पर अदालत टससे मस न हुई और मुलजिम छूट गया।

इस घटनाके कोई चार साल बाद लाला नारायण प्रसादकी जमींदारी के एक खेत पर रातमें कोई ९ बजे यही आदमी बैठा था और गाँवके आदमी इससे कुछ काम लेने और बदलेमें इसे एक हजार रुपये देनेकी बात कर रहे थे। काम था लाला नारायण प्रसादके मुन्शीको आज ही रात कत्ल कर देना।

बात पक्की हो गई, तो यों ही उसने पूछा—"कौन-से जमींदारका मुन्शी है यह ?"

"शहरका बनिया है जमींदार !" उत्तर मिला, तो फिर यह प्रश्न—"क्या नाम ?" और ज्योंही उसने सुना—"लाला नारायण प्रसाद" कि वह कूद कर खड़ा होगया।

चमचमाता छुरा अब उसके हाथमें और यह उसका ऐलान—"बनिये के मुन्शीको नहीं, अब तुम्हारे चार आदमियोंको कत्ल करूँगा। जालिम वह नहीं, तुम हो।"

बुलाने वाले परेशान कि किस मुसीबतमें फँस गये और यह हुआ क्या ? उन्होंने कुछ और रुपयोंका लोभ दिया, तो वह गरजा—"हजारों नहीं, लाखों भी दोगे, तो उसे नहीं मारूँगा और तुम्हें नहीं छोड़ूँगा।"

मांगी थी नीचेको, मिल गई ऊपरको—चले थे सुलटने और गये उलट। जवानोंने हाथ जोड़े, बूढ़ोंने पगड़ियाँ पैरों धरीं, खुशामदोंके अम्बार लगाये, तब कहीं मामला इस पर आया—"लाला नारायण प्रसाद इन्साफ़ का पुतला है। उसने एक डाकूके साथ भी इंसाफ किया, तो वह तुम्हारे;

यानी अपने पड़ोसियोंके साथ कैसे बेइंसाफी कर सकता है ? आजसे कसम खाओ कम्बख्तो कि उसे अपना बुजुर्ग मानोगे ।"

सबने तोबा की, कसमें खाईं और तब ये सब लालाके डेरे पर पहुँचे। मुन्शीको जगाया, किस्सा सुनाया, सबने कसमें दोहराईं और अपनी अपनी राह लगे ।

[३]

एक लेखक बन्धुका अपना संस्मरण इस प्रकार है—

कई दिन भोजनके स्थानमें जलपान करनेके बाद २०) जेबमें आये और मैं घरसे निकला । रुपये बस ये ही २० थे, पर मांगें थीं शायद बीस हजार । मुझे इन रुपयोंको इस तरह खर्च करना था कि दूसरे रुपये आने तक परिवारकी भूख हड़ताल फिरसे आरंभ न हो ।

मैं तो बाजारमें सामानकी सर्वे करने लगा—कहाँ क्या सस्ता है और जब यह सर्वे समाप्त कर मैं सामान खरीदनेको तैयार हुआ, तो देखा सर्वे ही सर्वेमें जेब कट गई है—२० रुपये तो गये ही नया कमीज भी खराब हो गया ।

यह धक्का साधारण न था, पर कटी जेब सिल सकती थी, गये दाम तो लौट न सकते थे—मैं कब तक लोटता, घरको लौटा, पर सब लोग मेरी नहीं, भोजन-सामग्रीकी प्रतीक्षा कर रहे थे और यह तो निश्चित ही है कि मा या पत्नीके लिए उस सामग्रीके स्थानमें मेरा कुछ भी उपयोग न था । यही नहीं, उनकी दृष्टि यह थी कि उनके आगे कई दिन बाद परसी गई भोजन सामग्रीका अपहरणकर्ता मैं ही था । साफ-साफ यों कि अपनी जेब कटानेका श्रेय, उनके बाटों मुझे ही था । आँसू और बकवाद असहायताके अस्त्र हैं—मुझे दोनोंका भरपूर शिकार होना पड़ा, पर दुःख है कि इनसे मेरी कटी जेब सिल न पाई ।

मैं बिना पानी पिये ही पड़ रहा और पड़ा रहा । शामको डाकियेने

आवाज़ दी। डाक मेरी जिन्दगी है, पर उठनेको मन न हुआ, तो पत्नीसे कहा—"लेना जी, ज़रा चिठ्ठियाँ!"

वे लौट कर आईं—"तुम्हें ही बुलाता है!"

उठा, यह सोचते कि कोई लेख किसी पत्रसे वापस आया होगा, पर देखा कि डाकिया जी मनिआर्डर फार्म लिये खड़े हैं। एक-एक साँसमें लाख-लाख स्मृतियाँ, पर सब सूचना हीन—मनिआर्डर तो कहींसे आने वाला है नहीं!

आने वाला न हो, पर आ तो गया है। ये निकले दस-दसके दो नोट, तो मनिआर्डर २० रुपयोंका है। भेजा है इसी नगरके किसी श्यामसिंहने, पर किसी श्यामसिंहको मैं जानता हूँ, यह नहीं जानता। न जानूँ, पर मनिआर्डर मेरा है और किसीने बड़े समय पर भेजा है। २० रुपये क्या आये, रिजर्व बैंक ही मेरे घर आगया!

"यह लीजिए कूपन!" डाकियेने कहा। ले लिया, तो बाँचा भी। लिखा था—"मेरे दोस्त, आज सुबह ही जोरूने कहा—घरमें कुछ नहीं है, तो घरसे निकला और निकलते ही मिल गये तुम। नई कमीज़में बटुवा देखा, तो सोचा चलो सुगन तो अच्छा है। ब्लेड ऐसा बैठा कि क्या कहूँ। किसीने अपनी छिनाल जोरूकी नाक भी इस सफाईसे साफ न की होगी, पर उस बटवेमें मिले कूपन पर सम्पादकने लिखा था—"कई दिनसे आपके भूखे रहनेकी बात पढ़ कर, नियमके विरुद्ध पेशगी रुपये भेज रहा हूँ।" सोचा—यह लेखक भी मेरे ही जैसा है और तभी मिल गया एक और बटुवा—पूरे सप्ताहका खर्च है। लो, तुम भी खुश रहो मेरे दोस्त!"

ये भाषा-शास्त्री

मदमाती मसूरीके तिलक पुस्तकालयसे किंगक्रेकको उतरती घुमावदार पगडण्डी। उस पर उतरा जा रहा हूँ मैं और मेरे पास-पास यह जा रहा है चना जोर गरमका बक्सा गलेमें डाले १६-१७ सालका एक लड़का। आदमी आ-जा रहे हैं, पर यह आवाज़ नहीं लगाता, लटके नहीं गाता और चना जोर गरमकी बिक्रीका तो सारा दार-मदार ही लटकों पर है।

तभी उसे मिला उसका एक साथी नीचेसे ऊपर जाता, उसे भी उसका मौन अखरा—"अबे, आवाज़ लगा, चुप क्यों है, गलेमें हाफू तो नहीं निकल आया।"

तमक कर लड़केने कहा—"हाफू निकले तेरी जोरूके गलेमें, जो हमसे सिकवाती फिरे। अबे चमचू, हमारे हाफू निकले, तो खायें क्या—तुझे तो तेरी बहूने गोद ले रक्खा है, तुझे रोटियोंकी क्या फ़िकर?"

साथीने पत्ता काटा—"अबे चिमगादड़के, तो जलता क्यों है? मेरी बहू तो तुझे भी गोद लेकर लड्डू बाँट देगी, पर यह तो बता कि गुम क्यों है? लगा आवाज़, बाँध लटके, जो बरसे पैसा ही पैसा?"

लड़केने कहा—"अबे, तू तो है चौखटकी चप्पल कि जहाँ देखा, रपट पड़ा और हम हैं दूकानदार—दुनियाकी रमज़ पहचानते हैं। जहाँ पैसा बरसनेका डौल होता है, वहाँ चना जोर गरम वालेकी आवाज झींगरी हो जाती है।"

और अब मज़ाककी मूडसे गम्भीरताके धरातल पर आते हुए उसने कहा "यहाँ एक कौड़ीका भी चना नहीं बिक सकता। बात यह है कि जो लोग किंगक्रेक पर उतर रहे हैं, उन्हें तो लगी रहती है हाबड़-ताबड़ कि पता नहीं मोटरमें जगह मिलेगी या नहीं, कुली कहाँ गया, बीबी बच्चे कहाँ

हैं ? और जो लोग नीचेसे ऊपर जा रहे हैं, उनका आधा जी तो फँसा रहता है चढ़ाईकी थकानमें और आधा होटलमें, फिर बताओ, इस सड़क पर चना कौन खाये—यह तो यार, मौजके मसाले हैं।"

बात आई-गई हुई, पर सोचना स्वभाव हो गया है, मैं सोचता रहा। पहली बात जो मनमें आई, वह थी—उस अपढ़ लड़केमें मनोवृत्तियोंके विश्लेषणकी सूक्ष्म और गहरी क्षमता। यह क्षमता देशकी उस जीवन-शक्तिका एक प्रदर्शन है, जो सदियोंकी दासता और संघर्षमें भी मरी नहीं, दूसरी बात मनमें आई यह कि इन अपढ़ बालकोंके पास इतनी सरस, सजीव और स्वस्थ भाषा है कि हमारे महामहोपाध्याय इनसे अभी बरसों बोलनेका तरीका सीखा करें, बस तबसे अपढ़ भाषाशास्त्रियोंकी खोज मेरा स्वभाव हो गया।

* * *

एक गाँवके मुखियाका घर—हम ३-४ मेहमान उनकी बैठकमें भोजन की थालियों पर, जिनमें उनका एक लड़का भी! यह लड़का खानेमें ज़रा प्रगतिशील। मुखिया जी बोले—"पण्डित जी, यह पहले जन्ममें जानवर था, इसलिए आदमीकी जून पाकर भी इसका ढंग नहीं बदला। खैर, थूनता, भसकता तो यह नहीं, पर खानेको खाता भी नहीं, निगलता है।"

"इन सबमें क्या भेद है, मेहरबानी करके यह बताइये मुखिया जी!" लड़केको उनकी झाड़से बचानेके लिए मैंने बात बदली, तो मुखिया जी बोले—"पण्डित जी, आदमी खाता है, जानवर निगलता है, भूत थूनता है और राक्षस भसकता है।"

और तब उन्होंने बताया कि खाना खाया जाता है धीरे-धीरे चबाकर, निगला जाता है पपोलकर जल्दी जल्दी गलेमें उतार कर, थूना जाता है ढेरों भोजन बिना ठीक तरह चबाये पेटमें भरकर और भसका जाता है बहुत तेजीसे हाथ चलाकर, चारों ओर खिण्डाते हुए और हाथ मुँहको सानते हुए।

मुखियाजीने यह बताया ही नहीं मुँह और हाथकी आकृतिको मुद्राओंमें बदलकर वहीं चारों भावोंका प्रदर्शन भी किया। शब्दोंकी इस सूक्ष्म भेद-रेखासे कितने शिक्षित परिचित हैं ?

* * *

जिलाधीश श्री वीरेन्द्र प्रताप साही, उनकी पत्नी श्रीमती गिरिजा कुमारी साही और मैं एक मेलेमें गये। शामको जब हम लौटे तो दूसरी मोटरमें एक डिप्टी कलक्टरकी पत्नी और बच्चे थे। यह मोटर पुरानी थी। रातका समय, जंगलका सफ़र, मोटर पुरानी; डिप्टी साहबकी पत्नीने अपनी मोटर हमारी मोटरसे आगे कराई कि रास्तेमें गाड़ी खराब हो जाये, तो हमें पता चले।

यह पुरानी मोटर जब साही साहबकी मोटरके पाससे एक सपाटेके साथ आगे निकली, तो श्रीमती साहीने कहा "अरे प्रभाकर जी, हमारे डिप्टी साहबकी मोटर तो आज उड़न-खटोला होय गई है।"

यह पुरानी मोटर कुछ दूर पर ठप्प हो गई, तो श्रीमती साहीने कहा—"आपके डिप्टी साहब भी खूब रहे कि खुद तो मेलेमें रह गये और बच्चोंको यह खड़खड़िया देदी।"

हम सब हँस पड़े, पर तभी मैंने कहा कि आज यह समझमें आया कि भाषाको मातृभाषा क्यों कहा गया है। तेज़ चली मोटरको उड़न-खटोला और ठप्प हुईको खड़खड़िया माँ-बहनें ही कह सकती हैं—कोई एम. ए. शास्त्री या साहित्य-रत्न नहीं !

* * *

हमारे प्रेसमें एक इंकमैन है रिजवान। कोई १२ वर्षका अशिक्षित बालक। उस दिन मेरे सिरमें तेल मलते मलते बातें करने लगा। अपने पिताकी चर्चामें बोला—"मेरे अब्बा पतली बेंतसे मारते मारते बधिया खींच देते थे।"

जो लोग बैलको बधिया करनेकी प्रक्रियासे परिचित हैं, वे ही इस अभिव्यक्तिका रस ले सकते हैं। यही बालक एक दिन बोला—"जब आपने प्रेस खोला, तब तो मेरे पत्ते भी नहीं जमे थे।" जीवन-वृक्षकी कितनी मधुर और मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति है ?

* * *

श्री शिवराम शर्मा देहातमें जनमे, पले और पनप रहे हैं। मैं उन्हें देहाती-प्रतिभाका मौडल कहा करता हूँ। आप वैद्य हैं, अभिनेता हैं, लेखक हैं। उन्होंने एक अध्यापकका स्कैच लिखा। उसमें एक जगह कहा है—'अजी, वह मास्टर तो गजबका पुतला था। गाँव भरके बालकों को उसने मोह लिया था—सब उसीके राग गाते थे, पर वह बिना ब्याहा था। थोड़े दिन बाद गाँवमें खोट करने लगा।" मैं जाने कितनी बार सोच चुका हूँ कि क्या कोई शहरी कथाकार, दुराचारकी इससे सुन्दर, संकेतात्मक और पूर्ण अभिव्यक्ति दे सकता है ?

* * *

एक देहातमें मैं भाषण देने गया। जिनके घर ठहरा, उनका छोटा लड़का मुझसे हिल गया। रातमें वह मेरी बुक्कलमें बैठा था कि वे बाहरसे आये और बोले—"गोपाल, पंडित जीके साथ तेरी दोस्ती पहले ही दिन गदरा गई, भाई !" वाह, क्या दोस्ती गदराई है।

* * *

मेरे मानसिक परिवारकी एक सदस्या है जयमाला। वह अपने पतिसे असन्तुष्ट थी; उसने अपने पतिके एक मित्रकी छायामें सन्तोष देखा और वह उनकी होगई। आधार यह था कि ये उसकी रात-दिन प्रशंसा किया करते थे। कुछ दिन खूब बीते और फिर यहाँ भी कलहका तूफ़ान उठ खड़ा हुआ।

अब उसके नये साथी उससे ऊब रहे थे; वह उनके जीवनका भार हो चली थी। एक दिन मैंने उससे पूछा—"जयमाला बहन, पहले तो वे

सदा तुम्हारी एकमें सौ तारीफ़ें किया करते थे, अब उन्हें तुममें कोई गुण ही दिखाई नहीं देता; आखिर यह हुआ क्या ?"

जयमालाने बस एक वाक्य कहा—"मर्दको पेड़ पर लगा फूल ही अच्छा लगता है भाई साहब !" और लम्बे साँसके साथ वह चुप होगई।

मैं उस दिन सुनकर सुन्न होगया था और आज सोचकर सुन्न हुआ जाता हूँ। पुरुषका पूरा चरित्र १७ अक्षरोंमें समोकर रख दिया है, उधेड़ कर रख दिया है—मर्दको पेड़ पर लगा फूल ही अच्छा लगता है। इतने संक्षेपमें इतनी मुकम्मल बात कहनेकी शक्ति धराके किस कविमें है ?

एक विदेशी मनोविज्ञान-शास्त्रीसे एक युवतीने पूछा—"महाशय, एक युवक हमेशा मेरे पीछे पड़ा रहता है, अपने प्यारकी गहराइयोंके गीत गाता रहता है; मैं क्या करूँ ?"

मनोविज्ञान-शास्त्रीने कहा—"उससे विवाह कर लो, कुछ दिन बाद वह तलाकके तरीके खोजता दिखाई देगा।"

बात वही है, जीवनका पहलू वही है, पर वह बात कहाँ ! 'पेड़ पर लगा फूल' कलेजेमें शूल-सा चुभ जाता है, तो चुभा ही रहता है, फिर निकलता नहीं।

* * *

रेल उड़ी जा रही थी और वह देहाती डण्डा पकड़े दरवाज़े पर खड़ा था। हवाका एक झोंका आया कि उसकी टोपी उड़ गई। उसने आव देखा न ताव, झट खतरेकी जंजीर खींच दी। गाड़ी ठहरी, तो गार्ड आया—"क्यों खींची है तुमने जंजीर ?"

किसीने बताया कि इस बेचारे देहातीकी टोपी उड़ गई थी। एक मामूली टोपीके लिए जंजीर ? अजीब बेवकूफ है यह देहाती ! गार्डको गुस्सा आगया। झल्लाकर उसने कहा—"निकालो ५० रुपये।"

"कैसे ५० रुपिये गार्ड साहब ?" देहातीने सरल भावसे कहा, तो

सामने मुझे होना न था और गलियोंमें भले घर की लड़की उन दिनों निकलती न थी !

लुकते-छिपते सुसरालकी गलीके कई चक्कर काटे, पर इससे भला मतलब ! ढलती दोपहरीमें भंगीकी लड़की उस घरसे निकली, तो पास लगकर पूछा—"वह लड़की कैसी है बहन ?"

इस प्रश्नके ३० वर्ष बाद तक मैंने जितने स्कैच लिखे हैं, उन सबको उस लड़कीने एक शब्दमें मात कर दिया—"जादोकी भेन्ना राधा है बाबू जी, जाओ अपने घर बैठो ।"

राधामें भावी पत्नीका पूर्ण परिचय है, तो 'जाओ अपने घर बैठो'में मेरी सम्पूर्ण जाँच-पड़तालका जवाब और यह भी कि मैं तुम्हें पहचान गई हूँ तुम कन्हैया हो !

* * *

जन साधारणके पास अभिव्यक्तियोंका नित-नूतन ऐसा भण्डार है, बात करनेका ऐसा लहजा है कि पाण्डित्य खड़ा ताका करे । भाई गुलाम अनवर साबरीने उस दिन एक मौलवीके मुँह पर किसानका झाँपड़ पड़ने की बात सुनाई तो हँसते-हँसते हम सब लोट-पोट हो गये—

एक मौलवी-जमींदारके पास उनका किसान आया, तो मौलवी साहबने पूछा—"इस साल तकातुरे अमतारसे किश्तजारे गन्दुमको कोई मफ़ाद पहुँचा या नहीं ।" उनका मतलब यह जानना था कि इस बारिशसे गेहुँओं को कोई लाभ हुआ या नहीं, पर वे किससे किस भाषामें बोल रहे थे ?

किसान जला भुना या बड़बड़ाया नहीं । बस उठते-उठते बोला—"हुजूर इस वक्त तो कुरान पढ़ रहे हैं, मैं कल आऊँगा ।"

किसानने मौलवीको जो कुरान पढ़ाई, मौलवी सच-मुच उसे ज़िन्दगी भर याद रक्खेगा, इसमें शक नहीं !

* *

उस दिन स्टेशनके पास दो देहाती बन्धु आपसमें लड़ पड़े। दोनों एक गाँवके। हरद्वारमें गंगा-स्नान करनेको एक साथ घरसे चले, निश्चय ही दोनों मित्र, पर रास्तेमें बातका बतंगड़ होगया, तो भिड़ पड़े ? मैंने बीचमें पड़कर बीच-बचाव किया, तो हटते- हटते एक बोला—"गे न समझना कि हम तुमसे उन्नीस हैं। जाने रहौ, बहुत बिगड़ैल हैं हम। अपनी पर आवैं, तो अबै सारेका थप्पड़नते मारत-मारत मोंह टमाटर बनाय दै हैं ?"

फफक कर दूसरेने कहा—"तौ तुम हू ई समझे रहौ कि हमहू चूनके ना एँ। घूँसनते मारत-मारत सारेका मोंह भाँटा बनाय दैबै।"

ठीक तो है, थप्पड़की मार मुँहको लाल कर देगी और घूँसोंकी मार उसे फुला देगी—कितनी सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति है यह ?

हमारे देशके पास–जनसाधारणके पास–भाषाका ऐसा भण्डार है कि हम उसकी उपेक्षा करके दर्शन और विज्ञानके ग्रन्थ भले ही लिख लें, बात-चीत नहीं कर सकते। आम आदमीकी बात-चीतमें मस्तिष्कका माया-जाल नहीं, हृदयकी सरल, सरसता होती है। चुटकुलों, कहानियों, दृष्टान्तों, शब्दों और अभिव्यक्तियोंका ऐसा संग्रह उसके पास है, जो बहुमूल्य है। इस दिशामें बहुत गहरे सतर्क प्रयत्नोंकी आवश्यकता है। ये प्रयत्न हमारी भाषाको समृद्ध और शक्तिशाली करने वाले होंगे, यह मेरा अखण्ड विश्वास है। आप घंटा भर किसी कुम्हार, चमार, धोबी, मल्लाह, किसान, तांगेवाले या भड़भूजेके पास बैठिये, आपको ५, चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्तियाँ या भावपूर्ण नये शब्द मिलेंगे। ये हमारी भाषाके हीरे हैं, मोती हैं; लाल हैं। मैं अक्सर सोचता हूँ, हम शिक्षितोंको इन अशिक्षितोंके द्वार शिष्य बनकर बैठना चाहिए।

और ये ?

एबरम गारफील्ड

अमेरिकाका आरेंज नामक गाँव और युग-युगोंसे भी ज्यादा—जुलाई १८३२ की बात। अमेरिका तब अपनी उन्नतिके चक्र पर चढ़ना सीख ही रहा था—न तब फोन की घण्टी बजते ही दौड़ पड़नेवाले फायरब्रिग्रेड थे, न वाटर वर्क्स और न सर्वत्र सुलभ अस्पताल।

गाँवके जंगलमें भयंकर आग लग गई थी और वह आंधीके वाहनपर चढ़ी गाँवकी ओर बढ़ी आ रही थी। आगकी उस आँधीसे भी बड़ी थी आतंककी आँधी, जिसकी झपेटमें आये गाँववासी अपना घर-सामान छोड़े, जान हथेली पर लिये, जिधर पैर पड़े, भागे जा रहे थे।

भयकी हड़बड़ाहट और निराशाके सूनेपनमें भी एब्रम गारफील्ड खड़ा था और उसके परिवारके लोग उसे घेरे हुए थे। वह आकाशकी ओर देख रहा था। अचानक उसने कहा—"खून-पसीना एक करके मैंने यह घर बनाया है। मैं इसे छोड़ कर नहीं भाग सकता। फिर यह मेरे घरका ही तो प्रश्न नहीं, उस सारे गाँवका है, जिसमें हमारे बाप-दादा खेले-सोये। मैं इसे छोड़कर नहीं भाग सकता। भला कैसे मैं अपने जीते-जी अपने घरको, अपने गाँवको जलकर राख हो जाने दूँ ? आओ, हम आग और आँधी, दोनोंके खिलाफ लड़ेंगे !"

एबरम गारफील्ड, उसकी पत्नी एलीजा गारफील्ड, तेरह वर्षकी एक कन्या और ग्यारह वर्षका एक लड़का; ये चार मानव अपने कुल्हाड़े और फावड़े लिये प्रलयसे युद्ध करनेको निकल पड़े। कहाँ वह प्रलय, कहाँ ये निरीह ? स्वर्गके देवता भी सच कहता हूँ, यह युद्ध देखनेके लिए अपनी

खिड़कियोंमें आ-बैठे। पेड़ कटने लगे, खाई खुदने लगी। ये लोग गाँव और आगका सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहते थे।

इस रणनीति पर देवता लोग हँस पड़े, बादल घिर आये, वर्षाकी झड़ी लग गई और आग बुझ गई। विजयी परिवार अपनी झोंपड़ी पर लौट आया। दिन भर की झुलस और थकान; ठण्डी हवामें बाहर चारपाई पर गारफील्ड लेट गया और बस यहीं आग और आँधीका वह विजेता हल्की ठण्डकसे हार गया। थोड़ी ही देरमें उसका श्वाँस घुटने लगा। डाक्टर तब कहाँ थे गाँव-गाँव। रात होते-न-होते गारफील्ड पूरी तरह रोगसे घिर गया और प्रभात फूटते-न-फूटते चल बसा।

वह मर गया, मरना तो एक दिन था ही उसे, वह शहीद हो गया और साहसका एक ऐसा उदाहरण छोड़ गया, जो आज भी ताज़ा है। अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट जेम्स गारफील्ड इसी साहसी एब्रम गारफील्डके पुत्र थे। दुनिया जानती है प्रेसीडेण्ट गारफील्ड महान् थे, पर मैं पूछता हूँ—और ये एब्रम गारफील्ड ?

पण्डित हरीराम वैद्य

सन् १९२० के तूफानी दिन और मईकी अंगारे बरसाती गरमियाँ। टिहरी राज्यके एक प्रदेशमें भयंकर हैजा फैला हुआ था। उबकाइयाँ, कै, दस्त और बस इनी-गिनी घड़ियोंमें रामनाम सत्य! चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी, पर राज्यकी प्रजाका 'अन्नदाता प्रभु' अपने आराममें लीन था—प्रजाकी पुकार कौन सुने ?

एक साधारण देहाती वैद्य भगवान्‌के दूतकी भाँति रात-दिन पीडितोंकी सेवामें लीन था। वह बीमारोंको दवा देता, उन्हें धीरज बँधाता और शोक की घटा फट पड़ने पर सान्त्वना-सहारा देता।

प्रलयकी गरमी, पहाड़ी रास्ते और रात-दिनका यह श्रम; वह भी हैजेकी झपेटमें आ गया। मृत्यु उससे खुलेआम खेल रही थी, उसके

जानते अपने जालमें उसे जकड़ रही थी, तब भी वह दूसरे बीमारोंको दवा बाँटे जा रहा था।

पत्नीने रोककर—रोकर समझाया, अपनोंने सीख दी, पर वह न माना और वही न माना, तो मृत्यु क्यों मानती ? ३६ वर्षकी जवानीमें वह मर गया, पर उसकी सेवाको आज भी उस प्रदेशके लोग याद करते हैं—"अरे भाई, वैद्य तो हरीराम था, जो दूसरों की आई में खुद चला गया। वह मरनेको मर गया, पर मरते दम तक गरीबोंको दवा बाँटता रहा।"

ये पण्डित हरीराम वैद्य टिहरीके मेंक्खिनी,आततायी राजतन्त्रके अमर-शहीद श्री देवसुमनके पिता थे। श्री देवसुमनकी महानता विख्यात है, पर मैं पूछता हूँ—क्या पण्डित हरीरामका उत्सर्ग कुछ अल्पमूल्य है ?

भाई राजाराम

भंग पीना और चिकनका अचकन, मलमलका कुरता, पल्लेदार टोपी और जरीका जूता पहने मटरगस्ती करना उसका स्वभाव था। पिता मेहनतसे कमाते और वह शानसे खर्च करता -उसके चारों ओर आनन्द ही आनन्द था।

तभी नगरमें फैला भयंकर प्लेग। एक सौ पाँच बुखार, बगल या जंघाओंमें गिल्टी और सुबह-शाममें खतम। प्लेग और चोरका आतंक प्रसिद्ध है। इसके निकली, उसके लगी, ताजी मारा, तुर्की काँपा। बाप बिना पानी मर गया—बेटा पास न आया। बेटा तड़फा और सोगया, पर बापने सुध न ली। शहर भरमें हाहाकार मच गया।

भंगड़ी भाई राजाराम सुबह घरसे निकलता और रातमें लौटता। दिन भर प्लेगवालोंको देखता फिरता। इसको पानी देता, उसकी दवा लाता, लल्लूके पैर दबाता, जगदत्तका कमरा धुलाता, नन्दूका बिस्तर बदलता।

मा रोती-रोकती, तो कहता—"अरी मा, बिना उसकी मरज़ीके कहीं

पत्ता नहीं हिलता। जब तक साँस बाकी है, मौत पास नहीं फटक सकती और जब परवाना कटेगा, तो घरके भीतरसे भी बाँह पकड़ी जायगी।"

राधे राजारामका दोस्त; घरमें इकला, न आगे, न पीछे—एक दिन आ गया झपेटमें! राजारामने सुना, तो दौड़ा गया। राधेके पास रजाई न थी। राजाराम चुपकेसे माकी आँख बचाकर अपनी रजाई राधेको दे आया और दो रात राधेके ही घर रहा।

राधे मौतकी जाड़से बच गया और राजाराम अपनी रजाई ले घर आया। आज वह सुस्त था। माने माथा छूकर देखा, तो आग! अब वह खुद झपेटमें था। दूसरे दिन अठारह वर्षकी विधवाके सामनेसे उसका शव घरसे निकला और आपाधापीकी उन घड़ियोंमें भी सारे शहरने उसे रोया।

भाई राजाराम हिन्दीके लेखक और पत्र-कार श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरके सगे अग्रज थे। प्रभाकर जीके सम्बन्धमें अब मैं क्या कहूँ, पर मैं आपसे पूछता हूँ—भाई राजारामकी इस आहुतिमें जीवनकी जो सुगन्ध है, क्या उसकी प्रेरणा अजेय नहीं है?